# श्रीमद्भागवतमहापुराण में वर्णित भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व

डॉ0 आशा सिंह रावत
असिस्टेण्ट प्रोफेसर–संस्कृत
शासकीय के0 आर0 जी0 पी0 जी0 महाविद्यालय
ग्वालियर (म0प्र0)
ई–मेल drashasingh.sanskrit@gmail.com

## सारांश–

संस्कृत वाङ्मय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारत देश का आत्मस्वरूप है और संस्कृत वाङ्मय में भी संस्कृत का पौराणिक साहित्य भारतीय मनीषा की बहुआयामी सर्जकता की प्रौढ़ परिणति है। एक हजार वर्षों से अधिक की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का वह ऐसा जीता जागता और समृद्ध शिलालेख है कि उसे छोड़कर अपने अतीत का ही नहीं, वर्तमान का भी समीचीन ज्ञान असंभव है। यद्यपि अष्टादश पुराण किसी न किसी रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु प्रेम, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी के प्रवाहित होने के साथ–साथ मानवीय जीवन मूल्यों की दृष्टि से भी पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण की जितनी उपादेयता है, अन्य पुराणों में वह दुर्लभ है। अतएव विषयवस्तु और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से भागवत के वैशिष्ट्य को आधार बनाकर यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी–

''विद्यावतां भागवते परीक्षा''

अर्थात भागवत में ही विद्वानों की परीक्षा होती है। भागवतपुराणकालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था सम्यक् प्रचलित थी। तत्कालीन समाज में नारी अपने पतिव्रत्य धर्म, आदर्श और सदाचार के कारण अत्यन्त पूजनीय थी। पत्नी पति की एकाग्र भाव से सेवा करती थी। नारी शिक्षा, ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों से कम नहीं थी। वह अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ गृहस्थ जीवन के पारिवारिक दायित्वों भी निष्ठा से पूर्ण करती थी, परन्तु तत्कालीन समाज में प्रचलित बहुविवाह प्रथा या बहुपत्नीप्रथा से सुखमय जीवन भी कष्टमय हो जाता था। तत्कालीन लोग आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण के लिए बड़े–बड़े यज्ञानुष्ठान करते थे। उस समय यद्यपि राजतंत्र था तथापि वह व्यावहारिक दृष्टि से लोकतंत्र ही था क्योंकि राजाओं पर ऋषियों और ब्राह्मणों के सदा अंकुश रहते थे। राजा धर्मपरायण एवं सदाचारवान थे। समाज में आजीविका का मुख्य साधन कृषि, गोपालन, व्यापारादि थे। उस समय व्यापार पूर्ण विकसित तथा उन्नत था। लोग कुसीद से भी आजीविका चलाते थे। गोधन भी प्रमुख धन माना जाता था। गोदान भी होता था और दहेज प्रथा प्रचलित थे। तत्कालीन लोगों के प्रायः धार्मिक होने के कारण त्याग, तपस्या और तपोवन जनमानस में रच बस गये थे। लोगों की धर्म, भक्ति दर्शन और अध्यात्म में अद्‌भुत रुचि थी। तत्कालीन ऋषियों का जीवन उदात्त और समुज्ज्वल था। वे तपः परायण थे, जिनमें त्याग, उदारता आदि सद्‌गुण स्पष्ट परिलक्षित होते थे। ऋषिगण, देवपरायण, विश्वबंधुत्व और लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत रहते हुए समाज और राजाओं का मार्गदर्शन करते थे। तत्कालीन लोग पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष के सिद्धांत में अटूट आस्था रखते थे। समाज में शान्ति, गम्भीरता, सहिष्णुता, दया, ईमानदारी, त्याग, परोपकार आदि मानवीय मूल्यों और सांस्कृतिक तत्वों का महनीय स्थान था।

**मुख्य शब्द–** समाज, संस्कृति, वर्णाश्रम व्यवस्था, सदाचार, पातिव्रत्य धर्म, यज्ञानुष्ठान, प्रजातन्त्र आदि।

## प्रस्तावना–

साहित्य समाज का दर्पण है – यह उक्ति श्रीमद्भागवतपुराण पर स्पष्ट घटित होती है क्योंकि भागवतपुराण में तत्कालीन समाज और संस्कृति सम्यक् प्रतिबिम्बित हुई है। भागवतपुराण के सम्यक् अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति और समाज का महत्त्वपूर्ण अंग थी।

## मुख्य विषय–

वस्तुतः वर्णाश्रम व्यवस्था भागवतकालीन जीवन की एक आदर्श व्यवस्था थी। भागवतपुराण में चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से मानी गयी है।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरूपादजाः।

वैराजात् पुरूषाज्जाता य आत्माचारलक्षणः।।[1]

वर्णव्यवस्था का मूलाधार गुण और कर्म ही था अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने चारों वर्णों की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुए गीता में अर्जुन से कहा है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। [2]

भागवतकाल में चारों ब्राह्मण आदि वर्णों के लोग स्वधर्मपालन में तत्पर रहते थे। श्रीमद्भागवत में चारों आश्रमों की उत्पत्ति विराट् पुरूष से ही कही गयी है –

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं ह्रदो मम।
वक्षःस्थानाद् वनेवासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः।।[3]

भागवतकालीन ऋषि कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, कर्दम आदि गृहस्थ धर्म का भलीभांति परिपालन करते थे, अतः ये गृहस्थ धर्म के आदर्शभूत थे। भागवतकालीन समाज में पारिवारिक संगठन प्रायः सुखमय चित्रित किया गया है, परन्तु मनुष्यों, राजाओं, ऋषियों की विलास प्रिय कामुक मनोवृत्ति ने जो बहुविवाह की प्रथा अपना कर परिवार के सुखमय जीवन में जो विष घोला, उसे भुलाया नहीं जा सकता है। महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ दिति और अदिति थीं। उनके अपने–अपने पुत्रों के अधिकार प्राप्ति के कारण देवासुर संग्राम हुआ, फिर भी पत्नी का स्थान सम्मानीय था। तत्कालीन समय में नारी अपने पातिव्रत्य धर्म, आदर्श और सदाचार के कारण अत्यन्त पूजनीय थी। माता देवहूति की पावनता से ही भगवान् कपिल का जन्म हुआ –

भूयाद्गरीयसी गुणः प्रसवः सतीनाम्।[4]

मनुपुत्री देवहूति एकाग्र भाव से पति की सेवा करती थी। मैत्रेयजी विदुरजी से देवहूति की पति सेवा का वर्णन करते है।[5] इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ स्वयं प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करती थी।[6] भागवतकाल में स्त्री शिक्षा पर बल दिया जाता था। तत्कालीन नारी ज्ञान–विज्ञान में, ब्रह्मज्ञान में पुरूषों से किसी प्रकार न्यून नहीं थी। निम्नलिखित उद्धरण से उनके ज्ञान–विज्ञान में पारंगत होने का प्रमाण मिलता है –

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा।
उभेते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे।।[7]

अर्थात् दक्ष प्रजापति की कन्या स्वधा के पितरों से महाविदुषी धरणी और वायुना नाम की कन्यायें उत्पन्न हुई। वे दोनों ही ज्ञान विज्ञान में पारंगत और ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करने वाली हुई। वस्तुतः भागवतकालीन नारी ने अपने गृहस्थ जीवन में परिवार के दायित्वों का, जिस निष्ठा, त्याग, दृढ़ इच्छाशक्ति एवं सहिष्णुता से वहन किया, वह वर्तमानकालीन समाज के लिए एक आदर्श का उदाहरण है।

भागवतकाल में मनुष्य आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण हेतु बड़े–बड़े यज्ञानुष्ठान करते थे। ये यज्ञ प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व थे। भागवत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाराज पृथु ने ब्रह्मवर्त क्षेत्र में 100 अश्वमेध यज्ञों की दीक्षा ली थी –

अथादीक्षत राजा तु ह्यमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती।।[8]

भागवतकालीन राजा सदा प्रजा का सम्यक् पालन करते थे। राजागण स्वंय धर्मपरायण एवं सदाचरणशील थे। राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता–पुत्र की तरह था। महाराज युधिष्ठिर के राज्य में किसी भी प्राणी को त्रिविध क्लेश न थे।[9] भगवान श्रीकृष्ण की प्रजा भी राजा के रूप में उन्हें अत्यधिक स्नेह करती हुई उन्हें सर्वस्व मानती थी। जब भगवान श्रीकृष्ण पाण्डवों के राज्यारोहरण के पश्चात् द्वारका जाते हैं तो प्रजा उनका अत्यधिक स्वागत करती है–भवाय नस्तवं विश्वभावन ....रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत। [10]

श्रीकृष्ण के मतानुसार राजा को राजनीतिवेत्ताओं से राजधर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि उन्होंने स्वयं भी शुक्रनीति का अध्ययन किया था। [11] भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव जी से भी राजनीति के विषय में उचित परामर्श लेते हैं।[12] विष्णु भगवान् महाराजा पृथु को राजा का कर्तव्य बतलाते हैं –

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो यत्साम्यपराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यया ह्रतपुण्यः प्रजानामरक्षिता करहारोऽधमति।।[13]

महाराज परीक्षित ने स्वयं राजा का धर्म बतलाते हुए कहा है –

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथा शास्त्रमनापद्युत्पथानिह।।[14]

इस प्रकार भागवतकाल में राजनैतिक जीवन का केन्द्र बिन्दु राजा और प्रजा का सम्बन्ध था। अनुचित कार्य करने वालों अथवा अपराधियों को राजा दण्ड भी देता था। चारों वर्णों के लिए पृथक्–पृथक् दण्ड विधान था। ब्राह्मण को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था। जब अश्वत्थामा ने द्रौपदी के सोते हुए पांच पुत्रों का वध कर दिया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा –

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम्।।[15]

अर्थात् पतित ब्राह्मण का भी वध नहीं करना चाहिए और आततायी को मार डालना चाहिए। शास्त्रों में मैंने ही ये दोनों बातें कही हैं, इसलिए मेरी दोनों आज्ञाओं का पालन करो। स्वंय श्रीकृष्ण ने देश में आतंक मचाने वाले पौण्ड्रक, जरासंध, शिशुपाल, कालयवन आदि को दण्ड दिया, तत्फलस्वरूप उनका विनाश किया था।[16] वे साम, दाम से वश में न होने वाले शत्रु को दण्ड से वश में करने की बात कहते हैं। भागवतकाल में राजा सभा, समिति और प्रजा–पुरोहितों की सहमति द्वारा ही नियुक्त होता था और उनके सहयोग से ही समुचित न्याय भी प्रदान करता था। दुष्टों से प्रजा और सज्जनों की रक्षा करता था। [17] यद्यपि तत्कालीन समय में राजतन्त्र था परन्तु वह व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्र ही था। राजा पर ब्राह्मणों, विद्वानों, पुरोहितों के पूर्ण अंकुश होते थे। भागवतकालीन राजा राज्य संचालनार्थ स्व प्रजा से नियमपूर्वक कर ग्रहण करते थे। वे प्रजा को बिना कष्ट दिये उसकी आय का छठा भाग कर रूप में ग्रहण करते थे परन्तु राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजापालन पहले है। कर–ग्रहण करना उसके बाद का द्वितीय कार्य बताया गया है। [18] श्रीकृष्ण के व्यवहारानुसार राजाओं को चहिये कि वह, जिन शत्रुओं को जीत लिया गया है अथवा जिनका वध कर दिया गया है उनकी सम्पत्ति को प्राप्त करें और सम्पत्ति से अपना कोष समृद्ध करें और प्रजा को समृद्ध बनायें। श्रीकृष्ण की दृष्टि में राजाओं को विवाह, यज्ञ, जन्मदिवस आदि के अवसर पर अन्य उपस्थित राजाओं से लिने वाले उपहार भी कोषवृद्धि में सहायक होते है।[19]

तत्कालीन समाज में आजीविका के मुख्य साधन कृषि, पशुपालन, उद्यान, व्यापार, एवं उद्योग–धन्धे थे। भागवतकाल में कृषि कर्म मुख्य व्यवसाय था। वैश्यों की वृत्ति के अन्तर्गत कृषि की भी गणना की गई थी

कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विद्या तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्।।[20]

सिंचाई का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि अधिकतर कृषि उस समय वर्षा पर ही निर्भर होती थी। इन्द्र के द्वारा की गई वर्षा पर ही कृषि के निर्भर होने के उल्लेख मिलते हैं। [21] पशुपालन के अंतर्गत प्रमुख गोपालन ही था। गौ की सेवा एवं पूजा भी होती थी। तत्कालीन समय में गोधन प्रचुर था। राजागण यज्ञों एवं विवाह आदि के अवसर पर गायों का दान किया करते थे। दहेज प्रथा भी प्रचलित थी। [22] दूध की प्प्ति हेतु भी गोपालन व्यवसाय रूप में था। गोप लोग अपने पशुओं की खाद्य सामग्री की सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे। वस्तु विनिमय का आधार प्रायः गायें होती थीं, अतः गायों को गोधन माना जाता था। अनाज के बदले में फल विक्रय होता था। [23] वेतन द्वारा सेवा विनिमय का भी भागवत में वर्णन मिलता है। [24] भागवतकाल में व्यापार पूर्णविकसित एवं उन्नत था। भागवत में विभिन्न उद्योग–धन्धों के उल्लेख प्राप्त होते थे। रंगकार[25] नायक[26] मालाकार[27] आदि के व्यवसाय सम्यक् प्रचलित थे। व्यापार–वाणिज्य के अन्तर्गत कुसीदवृत्ति का भी उल्लेख मिलता है। [28] आय व्यवस्था में कर के अतिरिक्त आर्थिक दण्ड द्वारा भी राजा को आर्थिक आय होती थी।

तत्कालीन युग पूर्णत धार्मिक था। भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्व–त्याग, तपस्या और तपोवन–जनमानस में रच बस गये थे। भागवतकालीन लोग वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तपस्या में निरत थे। उनकी तपस्या का मुख्य लक्ष्य तत्वज्ञान था। तत्कालीन ऋषियों का व्यक्तित्व उदात्त और समुज्ज्वल था। वे तपः परायण थे। भागवत में भक्ति की पराकाष्ठा के स्थान–स्थान पर दर्शन होते हैं। तत्कालीन जन ब्रह्मम, जीव और जगत् से भलीभांति परिचित थे। उनकी धर्म और अध्यात्म में गहन रुचि थी। भागवत में स्थान–स्थान पर मानव धर्म की चर्चा हुई हैं –

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविद्याञ्छुमान्।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा।। [29]

भागवत में रन्तिदेव की उदारता में त्याग की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर हुई है। मानव प्राणिमात्र के प्रति उदार होना चाहिए। उदारता ही परम धर्म है –

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।। [30]

परमात्मा का नाम सत् है और उसी के साथ नित्य संग करना सत्संग कहलाता है। भागवत में सतसंग की महिमा के विषय में कहा है –

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्संगं च लभते पुरूषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ।। [31]

तपोधर्म के महत्व को प्रतिपादित करते हुए स्वयं भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।। [32]

अर्थात् मैं तपस्या से ही इस संसार की सृष्टि करता हूँ। तपस्या से ही इसका धारण–पोषण करता हूँ और फिर तपस्या से ही इसे अपने में लीन कर लेता हूँ। तपस्या मेरी दुर्लङ्घ्य शक्ति है।

भागवतकालीन लोग भक्ति से सम्पन्न थे। भागवत में भक्ति की महिमा का गान करते हुए उसे मुक्तिप्रद बताया गया है। [33] कुन्ती के कथन से भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यभक्ति भाव का परिचय मिलता है –

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ........ भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्। [34]

भागवतकालीन मानव का जीवन संस्कार होता था। वसुदेव जी ने बलराम और श्रीकृष्ण का विधिपूर्वक यज्ञोपवीत संस्कार कराया था–

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयो समकारयत्।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिम्।। [35]

हमारे भागवतकालीन ऋषिगण विश्वबन्धुत्व के सफल एवं सजग प्रहरी थे। वे सर्वदा विश्व कल्याण में ही निरत रहते थे। देवताओं की प्रार्थना पर ऋषि दधीचि ने नश्वर शरीर को, जिससे लोग इतना प्रेम करते हैं, क्षणभर में ही त्याग दिया था। ऋषि दधीचि की इस शरीर त्याग की भावना में लोककल्याण एवं विश्वबन्धुत्व और लोककल्याण की पराकाष्ठा का परिचय मिलता है–

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टद्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहाभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।। [37]

भागवतकालीन लोग सूर्य[38] कात्यायनी[39] आदि देवी–देवताओं की भी पूजा अर्चना करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सद्गुणसम्पन्न थे। वे मातृ–पितृ–गुरु के सेवक, उत्कट प्रेमी, कृतज्ञी, परमविनम्र, सदाचारी, परोपकारी, त्यागी और धर्मप्रेमी थे। प्रायः सभी लोग पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्रप्ति में संलग्न रहते थे। वसुदेव जी पुरुषार्थचतुष्ट्य के महत्व का वर्णन करते हैं–

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते।। [40]

राजा भरत त्याग एवं वैराग्य का अनुपम उदाहरण थे। [41] भागवत में अध्यात्मसाधना करने वाले को आत्मज्ञानी बताया गया है। [42] भागवतकालीन लोग संयम–नियम का पालन करते थे। भागवत में नर–नारायण के संयम की स्तुति की गई हैं। [43] तत्कालीन लोग जन्म, कर्म और मोक्ष के सिद्धांतों में अटूट आस्था रखते थे, अतः भागवत में भगवान श्रीकृष्ण नंदबाबा से कहते हैं कि पिताजी! प्राणी अपने कर्म के अनुसार ही पैदा होता है और कर्म से ही मर जाता है –

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुखं भयं क्षेयं कर्मणैवाभिपद्यते।। [44]

अतः मानव को निष्काम कर्म करते हुए तत्वज्ञान प्राप्त कर परमात्मा को कर्म अर्पित कर देना चाहिए।

तत्कालीन समाज में अतिथि सत्कार एवं गो सेवा भी प्रचलित थी। तत्कालीन समाज में प्रचलित सास्कृतिक जीवन मूल्यों के अन्तर्गत शान्ति[45] गम्भीरता[46] सहिष्णुता[47] सत्यपरायणता[48] दया[49] त्याग[50] और परोपकार[51] आदि के भागवत में स्थान–स्थान पर दर्शन होते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के वर्णन प्रसंग में स्त्री–पुरूषों द्वारा विविध प्रकार से शरीर सज्जा करने, सुगन्धित विलेप लगाने, विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण धारण करने की सूचना मिलती है।[52]

संक्षेप में, भागवतपुराणकालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था सम्यक् प्रचलित थी। सभी लोग स्वगुणकर्मानुसार अपने–अपने धर्मपालन में निरत थे। तत्कालीन समाज में नारी अपने पतिव्रत्य धर्म, आदर्श और सदाचार के कारण अत्यन्त पूजनीय थी। पत्नी पति की एकाग्र भाव से सेवा करती थी। नारी शिक्षा, ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों से कम नहीं थी। वह अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ गृहस्थ जीवन के पारिवारिक दायित्वों भी निष्ठा से पूर्ण करती थी, परन्तु तत्कालीन समाज में प्रचलित बहुविवाह प्रथा या बहुपत्नीप्रथा से सुखमय जीवन भी कष्टमय हो जाता था। तत्कालीन लोग आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण के लिए बड़े–बड़े यज्ञानुष्ठान करते थे। उस समय यद्यपि राजतंत्र था तथापि वह व्यावहारिक दृष्टि से लोकतंत्र ही था क्योंकि राजाओं पर ऋषियों और ब्राह्मणों के सदा अंकुश रहते थे। राजा धर्मपरायण एवं सदाचारवान थे। वे प्रजा की सम्यक् रक्षा करते हुए उससे आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करते थे। राजा अनुचित कार्य करने वाले अपराधियों और शत्रुओं को दण्ड भी देता था परन्तु तीनों वर्णो की अपेक्षा ब्राह्मण को न्यून दण्ड मिलता था।

राजा कर के अतिरिक्त उपहार, यज्ञ, जन्मदिवस और शत्रु से प्राप्त हुए धन से भी कोष समृद्ध करता था। समाज में आजीविका का मुख्य साधन कृषि, गोपालन, व्यापारादि थे। उस समय व्यापार पूर्ण विकसित तथा उन्नत था। लोग कुसीद से भी आजीविका चलाते थे। गोधन भी प्रमुख धन माना जाता था। गोदान भी होता था और दहेज प्रथा प्रचलित थे। स्त्री और पुरुष सुगन्धित द्रव्यों और विविध आभूषणों से अपने आपको अलंकृत भी करते थे। अतिथि सत्कार एवं गो सेवा का अत्यन्त महत्त्व था। तत्कालीन लोगों के प्रायः धार्मिक होने के कारण त्याग, तपस्या और तपोवन जनमानस में रच बस गये थे। लोगों की धर्म, भक्ति दर्शन औश्र अध्यात्म में अद्भुत रुचि थी। तत्कालीन ऋषियों का जीवन उदात्त और समुज्ज्वल था। वे तपः परायण थे, जिनमें त्याग, उदारता आदि सद्गुण स्पष्ट परिलक्षित होते थे। भागवतकालीन लोग सूर्य, कात्यायनी आदि की भी उपासना करते थे। ऋषिगण, देवपरायण, विश्वबंधुत्व और लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत रहते हुए समाज और राजाओं का मार्गदर्शन करते थे। तत्कालीन लोग पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष के सिद्धांत में अटूट आस्था रखते थे। समाज में शान्ति, गम्भीरता, सहिष्णुता, दया, ईमानदारी, त्याग, परोपकार आदि मानवीय मूल्यों और सांस्कृतिक तत्वों का महनीय स्थान था। ये मूल्य जन–जन में विद्यमान थे।

 ISSN 2320-2025

## निष्कर्ष–

अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हैं कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन मूल्यों की दृष्टि से भागवतकालीन समाज सभ्य सुसंस्कृत एवं समुन्नत था। वर्तमान कलियुग में भी अपनी प्राचीन संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिए श्रीमद्भागवतपुराण का श्रवण, पठन–पाठन और सत्संग करना चाहिये और यह भी यथार्थ ही है कि श्रीमद्भागवतपुराण के प्रमुख पात्रों के चरित्रों का अनुसरण करके ही हमारा समाज और राष्ट्र सतत् सर्वांगीण विकास कर सकता हैं।

## सन्दर्भः–

| | | |
|---|---|---|
| 1 | श्रीमद्भागवतपुराण | 11/17/13 |
| 2 | श्रीमद्भगवद्गीता | 4/13 |
| 3 | वहीं | 11/17/14 |
| 4 | वहीं | 3/23/10 |
| 5 | वहीं | 3/23/1–3 |
| 6 | वही | 10/59/45 |
| 7 | वहीं | 4/1/64 |
| 8 | वहीं | 4/19/1 |
| 9 | वहीं | 1/10/4–6 |
| 10 | वहीं | 1/11/7–9 |
| 11 | महाभारत, उद्योगपर्व | 29/50 |
| 12 | श्रीमद्भागवतपुराण | 10/70/45–47, 10/71/1–10 |
| 13 | वहीं | 4/20/14 |
| 14 | वहीं | 1/17/16 |
| 15 | वहीं | 1/7/53 |
| 16 | वही | 10/50/46,48,49 एवं 10/74/30,43,48 |
| 17 | वहीं | 4/14/15–17 |
| 18 | वही | 4/20/14 |
| 19 | वहीं | 10/58/50–52 |
| 20 | वहीं | 10/24/21 |
| 21 | वहीं | 10/24/8–9 |
| 22 | वहीं | 10/24/32–33 |
| 23 | वही | 10/11/10 |
| 24 | वहीं | 5/9/11 |
| 25 | वही | 10/41/32 |
| 26 | वहीं | 10/41/40 |
| 27 | वही | 10/41/43 |
| 28 | वही | 10/24/21 |
| 29 | वहीं | 3/22/38 |
| 30 | वही | 9/21/12 |
| 31 | भा.मा.अ. | 2 |
| 32 | श्रीमद्भागवतपुराण | 2/9/23 |
| 33 | भा.मा.अ. | 2/16–21 |
| 34 | श्रीमद्भागवतपुराण | 1/8/20–25 |
| 35 | वहीं | 10/45/26 |
| 36 | वहीं | 6/10/8–10 |
| 37 | वही | 9/21/12 |
| 38 | वहीं | 12/11/30 |
| 39 | वहीं | 10/22/1–6 |
| 40 | वहीं | 10/5/28 |
| 41 | वहीं | 5/14/42–44 |
| 42 | वहीं | 9/19/20 |
| 43 | वहीं | 8/16/61 |
| 44 | वहीं | 10/24/13 |
| 45 | वहीं | 9/19/14 |
| 46 | वही | 8/21/28 |
| 47 | वहीं | 1/18/50 |
| 48 | वहीं | 9/7/24 |
| 49 | वहीं | 6/10/8 |
| 50 | वहीं | 8/1/10 |
| 51 | वहीं | 6/10/05 |
| 52 | वहीं | 10/75/14 |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. श्रीमद्भागवतपुराण, सं० हनुमानप्रसाद पोद्दार, 41वां संस्करण, संवत् 2058, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. श्रीमद्भगवद्गीता (साधक संजीवनी हिन्दी टीका सहित), सम्पादक स्वामी रामसुखदास, 33 वां संस्करण, गीता प्रेस गोरखपुर।
3. महाभारत, द्वितीय संस्करण, गीता प्रेस गोरखपुर।

# अश्वघोष का विविधशास्त्रीय ज्ञान

डा0 बाबूलाल मीना
एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत
महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भरतपुर (राजस्थान)
ई–मेल babulal.sanskrit@gmail.com

## सारांश–

अश्वघोष उच्च कोटि के कवि, बौद्ध दार्शनिक, सन्यासी और आचार्य थे, जिन्हें भदन्त, महाकवि और महावादी (महान् शास्त्रार्थी) भी कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष का नाम भक्ति और श्रद्धा से लिया गया है। वे मुख्यतः धर्म–प्रचारक थे जो शास्त्रार्थ द्वारा, कथाओं के द्वारा और धर्म के नियमों का साक्षात् निर्देश करके बौद्ध धर्म के प्रति सामान्य जनता का ध्यान आकृष्ट करते थे। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें कथावाचक के समान नानाशास्त्रों को रमणीय रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने पाण्डित्य और कवित्व का प्रकर्ष दिखाना था। पाण्डित्य से विद्वानों पर और कवित्व से सामान्य जनता पर उनका प्रभाव स्थापित होता था। इसलिए वे कवि और दार्शनिक दोनों की विशिष्टताओं से सम्पन्न थे। अश्वघोष के व्यक्तित्व का निर्माण वेद, उपनिषद, दर्शन, योग, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतशास्त्र, राजशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेकविध महत्वपूर्ण ग्रन्थों के गहनतम अध्ययन से हुआ था, अतः वे उपर्युक्त विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ भी थे।

मुख्य शब्द– बौद्ध धर्म, दार्शनिक, पाण्डित्य, चिन्तन, अनुष्ठान, कर्मयोग, आयुर्वेद आदि।

## प्रस्तावना–

वस्तुतः अश्वघोष का सम्बन्ध संस्कृत की पुरातन परम्परा से हटकर क्रांतिकारी बौद्ध धर्म के साथ था। आर्यशूर के समान उन्होंने भी यह संकल्प किया था–

स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।[1]

किंवदन्ती है कि वह जन्म से ब्राह्मण थे और बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर उन्होंने सुदूर प्रदेशों तक यात्रा करते हुए बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उनके ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उनकी युवावस्था विषय भोग प्रधान थी–

अहो बताश्चर्यमिदं विमुक्तये करोति रागी यदयं कथामिति।[2]

## मुख्य विषय–

अश्वघोष अनेक शास्त्रों और विषयों के महापण्डित थे। उन्होंने वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद, दर्शनशास्त्र, कामशास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन, मनन और चिंतन किया था। अब यहाँ संक्षेप में उनके विविधशास्त्रीय ज्ञान को प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. श्रुतिविषयक ज्ञान –

मूलतः ब्राह्मण होने के कारण उन्हें वैदिक धर्म की सूक्ष्म प्रक्रियाओं से परिचय था। वैदिक अनुष्ठानों से सुपरिचित अश्वघोष वशिष्ठ के लिए वैदिक अभिधान और्वशेयः [3] का तथा प्रोक्षण और अभ्युदय [4]

शब्दों का प्रयोग करते हैं। सौन्दरनन्द का ''प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके............ विधिर्यदृच्छा[5] यह श्लोक अश्वघोष के श्वेताश्वतर उपनिषद के अध्ययन को सूचित करता है।

2. पुराणेतिहासविषयक ज्ञान –

अश्वघोष पुराणों और रामायण आदि का पर्याप्त ज्ञान रखते थे। सौन्दरनंद के सप्तम सर्ग में आये वशिष्ठ, ऋष्यश्रृंग, वेदव्यास आदि ऋषियों के नाम से [6] यह लक्षित होता है कि उन्हें पौराणिक वृत्तों का सूक्ष्म ज्ञान था। ययाति [7] इन्द्र, वृत्र, नहुष [8] का उल्लेख भी उनके पौराणिक ज्ञान को प्रकट करता है। पुत्र शोक में अपने प्रिये प्राणों को निछावर करने वाले महाराज दशरथ का उल्लेख अश्वघोष ने कई स्थानों पर किया है[9] जो उनके रामायण ज्ञान को सूचित करता है। श्रीमद्भगवदगीता का अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य पर प्रभूत प्रभाव है। सौन्दरनंद के त्रयोदश सर्ग का ''इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवारयितुमर्हसि[10] गीता के ''इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः [11] से पूर्णतः साम्य रखता है। इसी प्रकार गीता का कर्मयोग का [12] अभ्यास का [13] भी सौन्दरनन्द पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

3. व्याकरणविषयक ज्ञान –

बुद्धचरितम् और सौन्दरनन्द के अध्ययन से विदित होता है कि वे व्याकरणशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने सौन्दरनन्द के सर्ग एक और दो में भट्टिकाव्य जैसी व्याकरण की छटा प्रस्तुत की है, मानों काव्य के बहाने व्याकरण की शिक्षा दी जा रही हो–यह बात वे धातुरूपों और लकारों के प्रयोग से सिद्ध करते है। लिट्लकार के प्रति उनका अद्भुत आकर्षण है। यथा सौन्दरनन्द में वे अकेले लिट्लकार का 460 बार प्रयोग करते हैं। सुन्दरी के विलाप से सम्बद्ध एक ही पद्य में लिट्लकार के 12 प्रयोग द्रष्टव्य हैं –

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम्।।[14]

इसके उत्तरार्द्ध में उपसर्ग के प्रयोग से धात्वर्थ परिवर्तन का सौन्दर्य प्रकट किया गया है, जो आगे दिये जा रहे श्लोक में सम्यक् परिलक्षित होगा–

प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान् परिजग्राह निजग्राहास्थितान् पथि।।[15]

यहॉ केवल ग्रह धातु के 4 उपसर्गों के साथ प्रयोग को प्रदर्शित किया गया है– अनुग्रह (कृपा करना), विग्रह (युद्ध), परिग्रह (स्वीकरण/अपनाना) तथा निग्रह (नियन्त्रण)। इससे भी बढकर 'मीयते' का चार पृथक् अर्थों में यह प्रयोग अश्वघोष के व्याकरण पाटव का परिचायक है –

यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित्कश्चिन्न मीयते।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते।।[16]

अर्थात् कपिल वस्तु में ब्रह्म का चिन्तन (मीयते, मा धातु–मापना) होता था। किसी के द्वारा कोई मारा नहीं जाता था (मीयते, मी = हिंसा)। समय–समय पर सोम को निचोड़ा जाता था (निमीयते, नि+मि=निचोड़ना, प्रस्तुति)। कोई असमय में मरथा नहीं था (प्रमीयते, प्र+मीङ् =प्राणत्याग)।

इसी तरह सौन्दरनन्द में लुङ्लकार का 118 बार और लङ्लकार का 38 बार प्रयोग हुआ है। सन्नन्तों के रूपों का प्रयोग [17] भी उनके व्याकरण ज्ञान की विलक्षणता को प्रकट करता है। इस प्रकार व्याकरण के विविध नियमों का विशिष्टता के साथ प्रयोग अश्वघोष को एक श्रेष्ठ वैयाकरण के पद पर प्रतिष्ठित करता है।

4. दर्शनविषयक ज्ञान –

अश्वघोष विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता था। बुद्धचरितम् में उल्लिखित अराड कलाम का गौतम को उपदेश महाभारत के सांख्य सिद्धांतों की शिक्षा से पूर्णतः साम्य रखता है –

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद।
पंचभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव।।[18]

सौन्दरनन्द का निम्न वर्णन अश्वघोष के योगशास्त्रीय ज्ञान को इंगित करता है –

दन्तेऽपि दन्तं प्रणिधाय कामं ताल्वग्रमुत्पीड्य च जिह्वयापि।
चित्तेन चित्तं परिगृह्य चापि कार्यः प्रयत्नो न तु तेऽनुवृत्ताः।।[19]

इस श्लोक में योगी को अपनी समस्त प्रक्रिया के साथ योग करने की देशना दी गई है। दांत पर दांत का प्रणिधान कर जिह्वा से ताल्वग्र को उत्पीडित कर तथा चित्त से चित्त का निग्रह करते हुए प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु उनकी ओर अनुवृत्त नहीं होना चाहिए। वे कहते हैं कि अनुचित ढ़ंग से किया गया योगाभ्यास भी अनर्थकारी होता है अतएव योग के लिए काल का परीक्षण आवश्यक है।[20]

यद्यपि अश्वघोष सभी दर्शनों के ज्ञाता थे परन्तु उनका स्वीकृत दर्शन बौद्ध दर्शन था। वे प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्म के अनुयायी अवश्य थे परन्तु बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया और पूरे प्रयत्न के साथ बौद्ध धर्म

एवं दर्शन के प्रचार–प्रचार में लगे रहे। अश्वघोष ने जिन दो महाकाव्यों–बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द की रचना की है, यद्यपि वे महाकाव्य होने के कारण लोकनुरंजन के लिए कहे जा सकते हैं परन्तु उनका प्रमुख उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार एवं बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन ही प्रतीत होता है। कारण यह है कि दोनों ही काव्यों के नायक बौद्ध भिक्षु ही हैं, और दोनों में ही बौद्ध दर्शन का प्रतिपादन किया है। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के 16वें सर्ग में बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों का सुंदर प्रतिपादन किया है तथा बुद्धचरित के 12वें सर्ग में बौद्ध दर्शन के सिद्धांतो को बीज रूप में उपन्यरत किया है।

अश्वघोष की यह विशेषता है कि वह गूढ से गूढ दार्शनिक भावों को अत्यंत सरल और सुबोध भाषा में व्यक्त करते हैं। बुद्धचरित के चतुर्थ सर्ग में श्रृंगार वर्णन के ठीक बाद ही दार्शनिक चिन्तन आरम्भ होता है। रात्रि में वनिताओं के दर्शन होने पर भी बुद्ध में राग की अपेक्षा विराग ही उत्पन्न किया गया है। जीवन की निरन्तर अनित्यता को दिखलाता हुआ कवि कितने सरल शब्दों में अपनी बात कहता है –

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्।।[21]

अर्थात् बीती हुए ऋतु पुनः लौट आती है, क्षीण चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है किन्तु नदियों का जल और मनुष्य का यौवन चले जाने के बाद पुनः नहीं लौटता।

बौद्ध दर्शन के बहुत से पदार्थ जैसे विवेक, शील, इन्द्रिय–संयम, वितर्क–प्रहाण, आर्यसत्य, मोक्ष आदि विषय एक–एक सर्ग में कथावाचक के समान विभिन्न उपमाओं के द्वारा समझाये गये हैं। बौद्ध सम्मत निर्वाण का दीपक के दृष्टान्त से क्या ही सरल रूप में वर्णन है। निर्वाण का अर्थ है–क्लेश क्षय। निर्वाण के बाद आवागमन नहीं होता। निर्वाण को समझाते हुए अश्वघोष कहते है कि जैसे निर्वाण प्राप्त (बुझा हुआ) दीपक न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है और न किसी दिशा–विदिशा में जाता है, अपितु तेल समाप्त होने पर शांति प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त पुरुष पृथ्वी, आकाश या दिशा–विदिशा में नहीं जाता है, क्लेशों का नाश हो जाने से वह केवल शांति प्राप्त करता है –

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।[22]
एवं कृती निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिक्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम।।[23]

प्रज्ञा, शील और समाधि का एकत्र वर्णन बुद्धचरित में सिद्धार्थ के जन्म के समय मुनि की भविष्यवाणी में दिखाई देता है–

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः।।[24]

अर्थात् यह बालक आगे चलकर उत्तमधर्म रूपी नदी बहायेगा जिसमें प्रज्ञा रूप जलप्रवाह होगा। अचल शील के रूप में खड़ा तट (वप्र) होगा, समाधि रूपी शीतलता रहेगी, व्रत रूपी चक्रवाक होंगे। तृष्णा से दुःखी संसारी जीव उस नदी का जल पीयेंगे।

इसी प्रकार बाध, प्रशम, निःशरण और त्राण के रूप में चार आर्य सत्यों को समझाया गया है।[25] कहीं कहीं दार्शनिक भावों को कूट शैली में व्यक्त किया गया है।[26] उसका भावग्रहण पाठक की योग्यता पर निर्भर है। अश्वघोष ने तो अपना उद्देश्य बतलाते हुए अन्त में कहा भी है कि बुद्ध के प्रति अनुराग से मैंने यह काव्य लिखा है, न कि अपनी काव्य कला प्रदर्शित करने के लिए –

बुद्धानुरागादनुगम्य ...................................... कोविदत्वम्।।[27]

5. काव्यशास्त्रीय ज्ञान –

बुद्धचरित और सौन्दरनन्द में जहाँ महाकाव्यीय नियमों का पालन किया गया है, वहीं शारिपुत्रप्रकरण में रूपक के एक भेद प्रकरण के नियमों का पालन हुआ है, जो अश्वघोष को काव्यशास्त्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। अश्वघोष को संस्कृत साहित्य के प्रारंभिक कवियों में स्थान प्राप्त है। जब तक संस्कृत काव्य में जटिलता का समावेश नहीं हुआ था। पौराणिक शैली का सर्वत्र प्रचार था, इसलिए बौद्ध कवियों की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार अश्वघोष ने भी अपने युग की अल्पसमासयुक्त पदावली अपना कर अपनी सुललित भाषा में काव्य रचना की। उनकी कविता रीति कालिदास के समान वैदर्भी ही है। अश्वघोष की भाषा शैली में भावों के अनुगमन की अनुपम शक्ति है। वे कुछ भी कहते हैं तो सहजता और स्वाभाविकता के आलोक में भाषा का विन्यास करते हैं। अनेक वाक्यों के समुच्चय के रूप में शुद्धोदन के आत्म संयम का चित्रण निम्नांकित पद्य में किया गया है –

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे।

वशीव कंचिद् विषयं न भेजे पितेव सर्वान् विषयान्ददर्श।।[28]

समान पदों के विन्यास का आकर्षण उनकी पदावली को कहीं–कहीं ललित बनाकर प्रस्तुत करता है।[29] अश्वघोष के दोनों महाकाव्य शान्तरस प्रधान है। मोक्ष धर्म को एकमात्र प्रतिपाद्य मानकर अन्य रसों को अंग बनाया गया है। काव्य ब्याज मात्र है, मोक्ष मूल विषय है–तभी तो अश्वघोष कहते हैं –

प्रायेणालोक्य लोकं ...................मया मोक्षः परमिति। [30]

बौद्ध धर्म के सुन्दर नैतिक उपदेशों के प्रतिपादन में शान्तरस की उत्कृष्टता का अवलोकन किया जा सकता है।[31] तपस्या के लिए सिद्धार्थ के दृढ़ संकल्प में शान्तरस की यह उद्भावना दर्शनीय है –

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौवनेवा।<br>
विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभेक्षः।।[32]

सुन्दरी और नन्द के परस्पर आकर्षण में संभोग श्रृंगार के अनेक दृश्य मिलते है।[33] सुन्दरी के विलाप में विप्रलम्भ श्रृंगार [34] अन्तःपुर विलाप के प्रसंग में करुण रस[35] नन्द और सुन्दरी के पारस्परिक हास–विलास वर्णन में हास्यरस[36] का वर्णन प्राप्त होता है। अलंकारों में अश्वघोष का उपमा के प्रति विशेष आकर्षण है। अन्य अलंकारों में अनुप्रास, यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, वक्रोक्ति, एकावली आदि प्रमुखता से प्रयुक्त हैं। सौन्दरनन्द के दर्शन प्रधान सर्गों में कवि ने उपमाओं की निरन्तर वर्षा की है।[37] रूपक[38] एकावली[39] यथासंख्य[40] मालोपमा[41] परिसंख्या[42] अर्थान्तरन्यास[43] आदि भी स्थान–स्थान पर द्रष्टव्य हैं। ये अलंकार कहीं सहज हैं तो कहीं प्रयत्ननिर्वर्त्य भी हैं। अश्वघोष ने मुख्यतः उपजाति और अनुष्टुप् का प्रयोग वाल्मीकि एवं कालिदास के प्रभाव से किया है। कहीं कहीं वैतालीय और औपच्छन्दसिक में भी सर्ग हैं, जैसे सौन्दरनन्द का अष्टम सर्ग और बुद्धचरित का पंचम सर्ग। सर्गान्त में शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविकीडित जैसे लम्बे छन्दों का प्रयोग भी है। वर्णनों में यशोधरा की चिन्ता का भावपूर्णवर्णन[44] नन्द और सुन्दरी का प्रेम वर्णन[45] बुद्ध के दर्शनार्थ उत्सुक स्त्रियों की अस्त–व्यस्त अवस्था का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है।[46] वस्तुतः अश्वघोष के वर्णनों में यथार्थता, सजीवता, स्वाभाविकता और चित्रात्मकता है। क्योंकि उनका भाषा पर भी असाधारण अधिकार था। वे लम्बे समासों से दूर प्रसादमाधुर्यगुण अवलम्बित शैली का अपने काव्य में प्रयोग करते हैं। उनका शब्द और अर्थ पर समान अधिकार होने के कारण भाषा और भावों का रुचिकर सामंजस्य सर्वत्र दर्शनीय है।

6. आयुर्वेदविषयकज्ञानम् –

महाकवि अश्वघोष का पाण्डित्य सबसे अधिक आयुर्वेदशास्त्र का मालुम पड़ता है। बौद्धदर्शन को सरलतम ढंग से समझाने के लिए उन्होंने आयुर्वेद के दृष्टान्तों का सहारा लिया है। रस और विपाक की चर्चा उन्होंने की है। चरक ने लिखा है कि पिप्पली का रस कटु होता है लेकिन उसक विपाक मधुर और प्रीतिकर होता है–इसी आशय का स्पष्टीकरण अश्वघोष ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है–

द्रव्यं यथास्यात्कटुकं रसेन तच्चोपयुक्तं मधुरं विपाके।<br>
तथैव वीर्यं कटुकं श्रमेण तस्यार्थसिद्धये मधुरो विपाकः।।[47]

अर्थात जिस प्रकार द्रव्य का रस कटु होता है लेकिन उसका विपाक मधुर होता है, उसी प्रकार परिश्रम के कारण उद्योग अप्रिय प्रतीत होता है लेकिन लक्ष्य प्राप्ति के बाद वह सुखदायी प्रतीत होता है।

वात, पित्त और कफ से रागोत्पत्ति होती है। यथा अहर्निश उड़ने वाला पक्षी अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं कर सकता, उसी प्रकार कोई भी देही दुःख को पार नहीं कर सकता। उसी प्रकार वात, पित्त एवं कफ से कोई भी पुरुष अपने शरीर को बचा नहीं सकता, अश्वघोष ने इसी बात को इस प्रकार कहा है –

यथा भिषक् पित्तकफानिलानां य एवं कोपं समुपैति दोषः।<br>
शमाय तस्यैव विधिं विधत्ते व्यधत्त दोषेषु तथैव बुद्धः।।[48]

अर्थात जैसे चिकित्सक कफ–पित्त–वायु में से जिस दोष के प्रकोप से रोग होता है, उसी की शान्ति की चेष्टा करता है, उसी प्रकार बुद्ध ने भी राग–द्वेष आदि दोषों के शमन के उपाय बताये।

इसी प्रकार अन्य भी आयुर्वेदविषयक ज्ञान के उदाहरण प्राप्त होते है।[49] जिनसे ज्ञात होता है कि अश्वघोष को आयुर्वेद का सूक्ष्म एवं प्रौढ़ ज्ञान था। वे सम्भवतः कवि, दार्शनिक और बौद्धभिक्षु के अतिरिक्त एक सफल चिकित्सक भी रहे होंगे।

इसी प्रकार अश्वघोष के श्रुति, इतिहासपुराण, दर्शन, व्याकरण, काव्यशास्त्र, आयुर्वेद के अतिरिक्त राजनीति, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्रविषयक ज्ञान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे–कामशास्त्रविषयक ज्ञान[50] राजनीतिशास्त्र विषयक ज्ञान[51] नीतिशास्त्रविषयक ज्ञान[52] ज्योतिषशास्त्रीय ज्ञान।[53]

## निष्कर्ष–

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अश्वघोष मौलिक प्रतिभा सम्पन्न महाकवि के साथ–साथ उच्चकोटिक उपदेष्टा, प्रौढ़ दार्शनिक, कुशल नाट्यकार तथा संगीतकार थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध शास्त्रों का सूक्ष्म ज्ञान अर्जित किया था। जैसे अनेक प्रकार की जलराशि से भरी नदियॉं समुद्र में आकर मिल जाती हैं और समुद्र गम्भीर हो जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार की विधाएँ उनके व्यक्तित्व में आकर मिल गयी थी। तत्फलस्वरूप वे आपूर्यमाण प्रतिष्ठा के सूर्य की भाँति अतिभास्वर हो गये थे। अश्वघोष के व्यक्तित्व का निर्माण वेद, उपनिषद, दर्शन, योग, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतशास्त्र, राजशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेकविध महत्वपूर्ण ग्रन्थों के गहनतम अध्ययन से हुआ था। अश्वघोष ने इन विषयों का ऐसा मार्मिक अध्ययन किया था कि सब उनके व्यक्तित्व में मिलकर एकाकार हो गये थे। यद्यपि उपर्युक्त शास्त्रों पर महाकवि अश्वघोष की पृथक् एवं प्रत्यक्ष रचना उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु अनेकविध शास्त्रों एवं विषयों का समुल्लेख महाकवि ने अपने काव्य के कथानक के प्रसंग में, पात्रों के संवाद वर्णन में, उपमा आदि आलंकारिक प्रयोगों में अत्यन्त मार्मिक, बोधगम्य और स्वाभाविक शैली में किया है। इससे हम निःसंकोच एवं निःसन्देह कह सकते हैं कि अश्वघोष अत्यन्त मेधावी और दूरदर्शी महाकवि थे। वे उच्च कोटि के काव्य–स्रष्टा एवं सूक्ष्म–द्रष्टा के साथ–साथ लोक चेतना के अन्यतम अध्येता भी थे। उनका वैदुष्य सर्वांगपूर्ण और व्यापक है, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में शोध एवं अनुशीलन का विषय है।

सन्दर्भ –

1 जातकमाला, 1/4
2 सौन्दरनन्द, 18/58
3 बुद्धचरितम्, 9/9
4 बुद्धचरितम्, 12/30
5 सौ. 16/17
6 सौ. सप्तम सर्ग, बु. 4/16–20
7 सौ. 1/59
8 बु., 11/13–16
9 बु., 8/79
10 सौ., 13/30
11 श्रीमद्भगवद्गीता, 2/58, 68
12 सौ. 17/19
13 सौ., 16/20
14 सौ., 4/34
15 सौ. 2/10
16 सौ. 1/15
17 सौ. 10/1
18 बु. 12/18
19 सौ. 16/83
20 सौ. 16/49
21 सौ. 9/28
22 सौ. 16/28
23 सौ. 16/29
24 बु. 1/71
25 सौ. 16/4
26 बु. 2/41
27 बु. 28/78
28 बु. 2/52
29 सौ. 17/67
30 सौ. 18/64
31 सौ. 16/4
32 बु. 5/19
33 सौ. 5/11
34 सौ. 6/26
35 बु. 8/57, 67 एवं सौ. 6/30
36 सौ. 4/11
37 सौ. 9/28, 16/28–29 एवं बु. 3/19, 21
38 सौ. 4/4 एवं बु. 1/71

39 बु. 2/14
40 बु. 2/37
41 सौ. 1/53
42 बु. 2/14
43 सौ. 8/31, 44 एवं बु. 3/59, 8/35, 11/59
44 बु. 8/58
45 सौ. 4/2, 7, 41
46 बु. 3/14
47 सौ. 16/93
48 सौ. 16/69
49 सौ. 8/4, 16/40, 14/5, 10/55, 7/48, 16/48
50 सौ. 4/9 एवं बु. सार्ग पंचम
51 सौ. 2/28, 1/60 एवं बु. 2/55
52 बु. 4/70, 8/35, 11/47, 52 एवं सौ. 2/9, 3/32–33, 9/33, 43–44, 46
53 बु. 1/9

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जातकमाला, पी0एल0 वैद्य, संस्करण 1959, दी मिथिला इंस्टीट्यूट, दरभंगा, बिहार।
2. बुद्धचरितम्, सम्पादक सूर्यनारायण चौधरी, संस्करण 2014, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली।
3. सौन्दरनन्दम्, सम्पादक आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र, संस्करण 2016, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।
4. श्रीमद्भगवद्गीता (साधक संजीवनी हिन्दी टीका सहित), सम्पादक स्वामी रामसुखदास, 33 वां संस्करण, गीता प्रेस गोरखपुर।

# माध्यमिकसम्मतशून्यवादविमर्शः

Joydeb Dinda
Guest Lecturer
Laxmi Devi Shroff Adarsh Sanskrit College
Harisharanam Kutir, Kalirakha
B. Deoghar, Jharkhand – 814112
Gmail: debjoydinda@gmail.com

**प्रबन्धसारः**

विविधानि भारतीयदर्शनानि मानवानाम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपदुःखत्रयनिवृत्तये प्रवृत्तानि। तेषु वेदस्य प्रामाण्यमुररीकृत्य प्रवृत्तानि आस्तिकदर्शनानि इत्यभिधीयन्ते। वेदस्य प्रमाण्यस्वीकृत्य प्रवृत्तानि नास्तिकानि इत्युच्यन्ते। नास्तिकदर्शनेषु अन्यतममिदं बौद्धदर्शनम्। अस्य च दर्शनस्य प्रवक्ता आसीत् भगवान् गौतमबुद्धः। यद्यपि भगवान् बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चतुर्षु सम्प्रदायेषु बौद्धा विभक्ताः। वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकाख्यबौद्धसम्प्रदायेषु नागार्जुनाचार्यप्रवर्तितस्य माध्यमिकसम्प्रदायस्य द्वितीयशतकोत्पन्नत्वं मन्यते विद्भिः। नागार्जुनाचार्यात्परमपि नैके आचार्या इमं मध्यमपन्थानम् अलञ्चक्रुः। तेष्वन्यतमा आर्यदेवः, स्थविरबुद्धपालितः, भावविवेकः, चन्द्रकीर्तिः, शान्तिदेवः, शान्तरक्षितश्चेत्यादय आचार्याः। एतैः माध्यमिकाचार्यैः शून्यमेव परमतत्त्वत्वेन स्वीकृतम्। माध्यमिकदर्शनोक्तं तत्त्वमिदं सत्, असत्, सदसत्, असन्नासत् इत्येतेभ्यः विलक्षणं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् अनिर्वचनीयम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वेऽपि नेदम् अभावपदवाच्यं, नापि नास्तिपदवाच्यम्। कारणं ह्यविद्यया अस्मादेव शून्यात् समस्तमपि जगदभिव्यक्तं भवति। अस्य अभावत्वे त्वस्मात् जगतः अभिव्यक्तिर्न स्यात्। माध्यमिककारिकायां नागार्जुनाचार्यानुसारेण शून्यम् अपरप्रत्ययम्, शान्तम्, प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्, निर्विकल्पम्, अनानार्थम् इत्यादिपञ्चलक्षणयुक्तम्। नागार्जुनाचार्येण विग्रहव्यावर्तन्यां पूर्वपक्षखण्डनपुरःसरं शून्यवादः प्रतिष्ठापितः। पूर्वपक्षसमर्थनकाले प्रतिपादितं यद् यदि सर्वभावस्वभावस्य शून्यत्वं स्यात् तर्हि 'सर्वं शून्यम्' इति वचनस्यापि सर्वभावान्तर्गतत्वात्, तद्वचनस्यापि शून्यत्वसाधकत्वं न स्यात्। एतच्च खण्डनाय उक्तं यत् सर्वभावस्य शून्यत्वे सति सर्वं शून्यम् इति वचनस्यापि सर्वभावान्तर्गतत्वात् तद्वचनस्य शून्यत्वसाधकत्वं न स्यात् इति चेन्न कारणं इदमपि वचनं शून्यम् शेषा अपि सर्वभावाः शून्यास्तस्मान्नास्ति वैषमिकत्वम्।

अद्वैतवादिनां यद्ब्रह्मतत्त्वं तदेव माध्यमिकानां शून्यतत्त्वम्। माध्यमिकमतस्य अद्वयमतेन सहातीव साम्यमस्ति। यथा ब्रह्मज्ञानोत्तरम् अज्ञानादिनाशपूर्वकं परमसत्यरूपेण मोक्षः प्राप्यते तथैव यथार्थशून्यस्वरूपज्ञानेन प्रपञ्चोपशमपुरःसरं निर्वाणं प्राप्यते। अनेन शून्यताज्ञानेन च निर्वाणप्राप्तिः। तस्मादियं शून्यता मोक्षोपयोगिनी। शून्यताज्ञानेन च अशेषकल्पनाजालप्रपञ्चविगमो भवति। प्रपञ्चविगमाच्च विकल्पनिवृत्तिः। विकल्पनिवृत्त्या चाशेषकर्मक्लेशनिवृत्तिः कर्मक्लेशनिवृत्या जन्मनिवृत्तिः। तस्मात् शून्यतैव सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते। प्रबन्धेऽस्मिन् माध्यमिकसम्मतः शून्यवादः समासेन प्रस्तूयते।

**कूञ्चिशब्दाः**

नास्तिकदर्शनम्। माध्यमिकदर्शनम्। शून्यवादः। शून्यम्। अद्वैतवादः। ब्रह्मतत्त्वम्। निर्वाणम्।

**१. उपोद्घातः**

विविधानि भारतीयदर्शनानि मानवानाम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपदुःखत्रयनिवृत्तये प्रवृत्तानि। तेषु वेदस्य प्रामाण्यमुररीकृत्य प्रवृत्तानि आस्तिकदर्शनानि इत्यभिधीयन्ते। वेदस्य प्रमाण्यमस्वीकृत्य प्रवृत्तानि नास्तिकानि इत्युच्यन्ते। त्रिषु भारतीयनास्तिकदर्शनेष्वन्यतमं अन्यतममिदं बौद्धदर्शनम्। अस्य च दर्शनस्य प्रवक्ता आसीत् भगवान् गौतमबुद्धः। यद्यपि भगवान् बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चर्तुषु सम्प्रदायेषु बौद्धाः विभक्ताः। ते च बौद्धाः चतुर्विधभावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धाः बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षवादानातिष्ठन्ते। भगवता बुद्धेन सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं दुःखं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यं शून्यमिति भावनाचतुष्टयमुक्तम्। एतेषु सर्वं शून्यं शून्यम् इति माध्यमिकसिद्धान्तः। मध्यमपन्थावलम्बनात् एते माध्यमिकाः इति नाम्ना प्रसिद्धिमागताः। यथा हि –

> “अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
> तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः”[1]॥ इति।

तेषां वादश्च शून्यवादः इत्यभिधया प्रसिद्धिं लब्धः। शून्यं किमित्यस्मिन् इति जिज्ञासायां नागार्जुनाचार्येण माध्यमिककारिकायामुक्तम्–

> “न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
> चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः” ॥[2] इति।

अर्थात् माध्यमिकदर्शनोक्तं तत्त्वमिदं सत्, असत्, सदसत्, असन्नासत् इत्येतेभ्यः विलक्षणं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् अनिर्वचनीयम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वेऽपि नेदम् अभावपदवाच्यं, नापि नास्तिपदवाच्यम्। कारणं ह्यविद्यया अस्मादेव शून्यात् समस्तमपि जगदभिव्यक्तं भवति। अस्य अभावत्वे त्वस्मात् जगतः अभिव्यक्तिर्न स्यात्। तस्माच्छून्यं न अभावस्वरूपम्।

नागार्जुनाचार्यप्रवर्तितस्य माध्यमिकसम्प्रदायस्य द्वितीयशतकोत्पन्नत्वं मन्यते विद्विभिः। नागार्जुनाचार्यात्परमपि नैके आचार्याः इमं मध्यमपन्थानम् अलञ्चक्रुः। तेष्वन्यतमाः आर्यदेवः, स्थविरबुद्धपालितः, भावविवेकः, चन्द्रकीर्तिः, शान्तिदेवः, शान्तरक्षितश्चेत्यादय आचार्याः। एतैरपि माध्यमिकाचार्यैः शून्यमेव परमतत्त्वत्वेन स्वीकृतम्। एतेषां माध्यमिकाचार्याणां देशकालकृतयः तेषां सिद्धान्तश्च यथामति प्रबन्धेऽस्मिन् समासेन आलोच्यन्ते।

**२. माध्यमिकाचार्याः**

बौद्धानां चतुर्विधेषु सम्प्रदायेषु माध्यमिकसम्प्रदायस्य प्रसिद्धिः सर्वापेक्षया अधिका जाता। माध्यमिकाचार्यैः स्वविचारकौशलेन स्वसिद्धान्तेषु दाढ्यत्वं सम्पादितम्। तस्मात् चतुर्विधेषु सर्वशून्यत्ववाद उच्चकोटिषु परिगण्यते। माध्यमिकानां यः शून्यवादः स एव वेदान्तिनाम् अद्वैतवादः इत्येवं सम्प्रदायेषु प्रसिद्ध। अत्र कारणं हि सम्प्रदायस्यास्य आचार्याणां प्रतिपादनकौशलम्। अधः केषाञ्चित् माध्यमिकप्रवराणां देशकालकृतयः आलोच्यन्ते।

**२.१. नागार्जुनाचार्यः–** नागार्जुनाचार्यः माध्यमिकसिद्धान्तस्य शून्यवादस्य च प्रचारक आसीत्। शून्यवादस्य प्रवक्तृत्वेन पूजितोऽयमाचार्यः द्वितीयशतके दक्षिणभारतस्य विदर्भप्रदेशे जनिं लेभे। अयं आन्ध्रराज्ञः गौतमीपुत्रयज्ञश्रिणः (१६६ई० –

1 समाधिराजसूत्रम् – ९/२७।

2 माध्यमिककारिका – १/७।

११६ई०) समकालिकः आसीत्। अस्य विषये बह्वः अलौकिककथाः बुस्तोनमहोदयेन स्वग्रन्थे सन्निबद्धाः। तेषु प्रचलितं मतं यदयं ५०० वर्षं यावत् जीवित आसीत्। परन्तु एतत्तु अर्थवादवाक्यम्। कुमारजीवेन ४०५ ईशावीये स्वग्रन्थे आचार्योऽयं उल्लिखितः। महायानबौद्धसम्प्रदायस्य प्रमुखाचार्यत्वेन पूज्यमानोऽयम् अश्वघोषः कुमारलात इत्येतेषां समकालिक आसीत् इत्युच्यते। अनेन विरचितः 'माध्यमिकाकारिका' इति ग्रन्थः माध्यमिकसम्प्रदायस्य आदिमग्रन्थत्वेन विद्वद्भिः स्वीकृतः। माध्यमिककारिकायाः आचार्यमल्लकृतः 'प्रज्ञाप्रदीपः', यथा आचार्यचन्द्रकीर्तिना विरचितः 'प्रसन्नप्रदा' इत्यादयो महत्त्वशालिन्यो वृत्तयः सन्ति। अनेन बहवः माध्यमिकसम्प्रदायराद्धान्तभूताः ग्रन्थाः विरचिताः। ते च – १. माध्यमिककारिका २. विग्रहव्यावर्तनी ३. शून्यतासप्ततिः ४. युक्तिषष्टिका ५. रत्नावली ६. वैदल्यसूत्रम् ७. प्रमाणविध्वंसनम् ८. उपायकौशल्यम् ९. चतुःस्तवः इत्यादयः। एतान् विहाय नैकेऽपि ग्रन्थाः अनेन विरचिताः इत्यपि प्रसिद्धिः वर्तते।

**२.२. आर्यदेवः (२००ई०-२२४ ई०)–** नागार्जुनाचार्यात् परं माध्यमिकसम्प्रदायस्य अन्यतमः मुख्य आचार्य आर्यदेवः। चन्द्रकीर्तेः वर्णनानुसारेण अयं सिंहपुरराज्ञः आत्मजः आसीत्। अस्य समयः २०० ईशावीयकालादारभ्य २२४ ईशावीयकालपर्यन्तम् आसीत्। नागार्जुनाचार्यस्य साक्षाच्छिष्यप्रवरेणानेन तस्मात् सर्वाणि आस्तीकनास्तीकदर्शनानि अधीतानि। एकाक्षिविद्यमानत्वात् अयं 'काणदेवः' इति नाम्नापि प्रसिद्ध सञ्जातः। कुमारजीवेन ४०५ ईशावीये चीनीभाषया विरचिते स्वग्रन्थे अस्य जीवनचरितं रचितम्। ध्यानमग्नावस्थायाम् अनेन पराजितस्य कस्यचित् गुरोः शिष्येण हतोऽयं माध्यमिकसिद्धान्तभूतान् वहून् ग्रन्थान् विरचितवान्। ते तावत् – १. चतुःशतकम् २. माध्यमिकहस्तबालप्रकरणम् ३. स्खलितप्रथमनयुक्तिहेतुसिद्धिः ४. ज्ञानसारसमुच्चयः ५. चर्यामेलायनप्रदीपः ६. चित्तावरणविशोधनम् ७. चतुःपीठतन्त्रराजः ८. चतुःपीठसाधनम् ९. ज्ञानडाकिनीसाधनम् १०. एकद्रुमपञ्जिका इत्यादयः।

**२.३. स्थविरबुद्धपालितः–** ईशावीयपञ्चमशतके विद्यमानोऽयं महायानबौद्धसम्प्रदायस्य अन्यतमः प्रवक्तासीत्। नागार्जुनाचार्यस्य माध्यमिककारिकायाः 'अकुतोभया'नामको यो वृत्तिग्रन्थस्तिब्बतप्रदेशे उपलभ्यते तस्मिन् अष्टौ माध्यमिकाचार्याः स्मृताः, स्थविरबुद्धपालितः तेष्वन्यतमः। अनेन माध्यमिककारिकायाः एका नवीनवृत्तिः विरचिता। या ईदानीं मूलसंस्कृतरूपेण नोपलभ्यते परन्तु तिब्बतीयभाषया[3] अनुवादत्वेनोपलभ्यते। अयमेव प्रासङ्गिकमतस्य प्रवर्तकः। अस्य मतं यत् एवं प्रकारेण विपक्षिणां पुरस्तात् प्रश्नः उपस्थापनीयः येन उत्तरप्रदानकाले पूर्वापरविरोधात् तेषां पातः स्यात्।

**२.४. भावविवेकः–** माध्यमिकसम्प्रदायस्य अन्यतमः प्रवरऽयं षष्ठशतके कौ अलञ्चकार। चीनीप्रदेशे अस्य 'भावविके' इति नाम परिप्राप्यते। अयं भव्यः इत्याख्यया अपि समाहृत आसीत्। अनेन विरचितः प्रज्ञाप्रदीपोऽधुना भोटभाषायामनूदित एवोपलभ्यते। अनेन बहवः माध्यमिकसिद्धान्तसम्बन्धाः ग्रन्थाः विरचिताः। ते तावत्– १. माध्यमिककारिकाव्याख्या २. मध्यमहृदयकारिका ३. मध्यमार्थसंग्रहः ४. हस्तरत्नं करमणिः वा चेत्यादयः। अनेन विरचिताः ग्रन्थाः इदानीं चीनीभाषायां तिब्बतीभाषामेव अनुवादत्वेन उपलभ्यन्ते।

**२.५. चन्द्रकीर्तिः–** तारानाथाचार्यस्य वचनानुसारेण माध्यमिकसम्प्रदायस्य प्रतिनिधिस्थानत्वेन अधिष्ठीयमान आचार्योऽयम् ईशावीयषष्ठशतके दक्षिणभारतस्य समन्तनामकस्थाने जनिं लेभे। बुद्धपालितशिष्यात् कमलबुद्धेरयं सर्वाणि नागार्जुनप्रणीतानि

---

3 अस्याः तिब्बतीय-अनुवादस्य सम्पादनं ड० बालेजरमहोदयेन विहितम्। द्रष्टव्यम्– बुद्धग्रन्थावली, भागः १६।

माध्यमिकशास्त्राणि पारं गतः। धर्मपालस्य शिष्यत्वमपि अनेन गृहीतम्। योगाचारसम्प्रदायस्य चन्द्रगोमिणा सह माध्यमिकाचार्यस्यास्य महती स्पर्धा आसीत्। अनेन त्रयः माध्यमिकग्रन्थाः विरचिताः। ते तावत् – १. माध्यमिकावतारः २. प्रसन्नपदा ३. चतुःशतवृत्तिश्च।

**२.६. शान्तिदेवः** – ईशावीयसप्तमशतके विद्यमानोऽयं माध्यमिकाचार्यः सौराष्ट्रप्रदेशस्य (वर्तमाने गुजरातप्रदेशस्य) राज्ञः कल्याणवर्मणः पुत्रः आसीत् इति तारानाथः प्रतिपादयति। ततः अनेन स्वराज्यं परित्यज्य भिक्षुत्वेन बौद्धधर्मः स्वीकृतः। नालन्दाविश्वविद्यालस्य सर्वश्रेष्ठः पण्डितः जयदेवः अस्य गुरुपदवीम् स्वीचकार। अनेन माध्यमिकासद्धान्तभूताः त्रयः ग्रन्थाः विरचिताः। ते च – १. शिक्षासमुच्चयः २. सूत्रसमुच्चयः ३. बोधिचर्यावतारश्चेति।

**२.७. शान्तरक्षितः**– ईशावीयाष्टमशतके विद्यमानेनानेन माध्यमिकाचार्येण माध्यमिकसिद्धान्तभूतः 'तत्त्वसंग्रहः'[4] इत्याख्यो ग्रन्थो व्यरचि। अनेन बहुत्र स्वग्रन्थे वसुमित्रः, धर्मपालः, घोषकः, संघभद्रः, वसुबन्धुः, दिङ्नागः, धर्मकीर्तिः इत्यादीनां सिद्धान्ताः खण्डिताः। किञ्च अनेन सांख्यन्यायमीमांसादीनां मतमपि स्वग्रन्थे समारोहेण खण्डितम्।

**३. शून्यवादः**

बौद्धानां भावनाचतुष्टयेषु यत्सर्वं शून्यं शून्यमिति तद्धि माध्यमिकराद्धान्तः। तच्च शून्यं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् अनिर्वचनीयम्। "अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव"[5] इति माधवाचार्यः। ननु जगतः सत्तात्वेऽपि कथं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वं चेदुच्यते अस्मद्भिः दृश्यमानस्य जगतः सत्तात्वं तु व्यावहारिकरूपेण न तु पारमार्थिकरूपेण। माध्यमिकैः प्रतिपादितं शून्यतत्त्वमद्वैतवादिभिः प्रतिपादितेन अद्वैतवादेन सह साम्यं परिलक्ष्यते। यथा हि विवेकचूडामणौ शङ्कराचार्येण–

"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥"[6] इति।

**३.१. शून्यलक्षणम्**

माध्यमिकैः राद्धान्तत्वेन स्वीकृतस्य यच्छून्यत्वं किं तस्य लक्षणं चेदुच्यते नागार्जुनाचार्येण–

"अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥"[7] इति।

प्रदर्शितकारिकानुसारेणशून्यं अपरप्रत्ययम्, शान्तम्, प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्, निर्विकल्पम्, अनानार्थम् इत्यादिलक्षणयुक्तम्।

**३.१.१. अपरप्रत्ययम्–** नागार्जुनाचार्यमते शून्यमपरप्रत्ययलक्षणयुक्तम्। शून्यं किम्, किं च तस्य स्वरूपम् उपदेष्टुमशक्यम्।

---

4 अयं ग्रन्थः प० कृष्णमाचार्यस्य सम्पादनेन गायकवाड ओरियोन्टल सीरीज इत्यस्मात् प्रकाशितः। ग्रन्थस्यास्य प्रारम्भे डॉ विनयघोषभट्टाचार्येण बौद्धाचार्याणां विस्तृतमैतिहासिकं विवरणं प्रस्तुतम्। अस्य आङ्लानुवादः डॉ गङ्गानाथझामहोदयेन कृतः।

5 सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० ५५।

6 विवेकचूडामणिः – १०९।

7 माध्यमिककारिका – १८/९।

अपरप्रत्ययत्वात् तदाचार्योपदेशश्रवणाज्ज्ञातुम् अशक्यम्। तस्मात् शून्यं प्रत्यात्मवेद्यस्वरूपयुक्तम्।

**३.१.२. शान्तम्–** शून्यं शान्तं भवति। शान्तं नाम स्वभावरहितम्। स्वभावरहित्वात् ब्रह्मवत् शून्यमपि निर्गुणम्। न हि शून्ये सत्त्वादयः गुणाः आरोपयितुं शक्यन्ते।

**३.१.३. अप्रपञ्चितम्–** शून्यं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। प्रपञ्चशब्देनात्र शब्दः परामृश्यते। शून्यं कदापि शब्दैः न प्रकट्यते।[8] शब्दार्थयोरविनाभावत्वात् शब्दैः हि अर्थः प्रकाश्यते। तस्मात् नागाजुनाचार्येण कारिकायां शून्यस्य लक्षणत्वे उक्तं शून्यं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। केनापि शब्देन शून्यार्थस्य अप्रकाशकत्वाच्छून्यम् 'अशब्दः', 'अनक्षरतत्त्वम्' इत्यादिनाम्ना लोकेषु प्रसिद्धम्।

**३.१.४. निर्विकल्पम्–** माध्यमिककारिकानुसारेण इदञ्च शून्यं निर्वकल्पलक्षणयुक्तम्। विकल्पकत्वं चित्तचलनयुक्तत्वमं चित्तव्यापारवत्त्वम् वा। शून्यं हि चित्तव्यापारे नान्तर्भवति। कारणं चित्तम् अस्य स्वरूपनिर्णये अशक्यम्। तस्मात् सूत्रकृता उक्तं माध्यमिकवृत्तौ– "परमार्थसत्यं कतमत्। यत्र ज्ञानस्याप्यप्रचारः। कः पुनर्वादोऽक्षराणामिति"[9] इति।

**३.१.५. अनानार्थम्–** शून्यम् अनानार्थम् अर्थात् अर्थैः राहित्ययुक्तं भवति। यस्मिन् गुणत्वम् आरोप्यते तत्र स्वभावेन नानार्थत्वम् आपतति। शून्यस्य गुणत्वाभावात् शून्ये नानार्थत्वाभावः। यथा हि माध्यमिकवृत्तिः– "नात्र किञ्चित् परमार्थतो नानाकरणं तत्। कस्माद्धेतोः? परमार्थतोऽत्यन्तानुत्पातकत्वात् सर्वधर्माणाम्"[10] इति।

**३.२. भेदाः**

शून्यतायाः वास्तवस्वरूपप्रतिपत्तये महायानबौद्धग्रन्थेषु शून्यतायाः भेदाः उक्ताः। ह्वेनच्यांगेन 'महाप्रज्ञापारमिता' इतिनामके ग्रन्थे शून्यताः अष्टादशः भेदाः वर्णिताः।[11] परन्तु हरिभद्राचार्येण अभिसमयालंकारालोके शून्यताः विंशतिः प्रकाराः सुनिर्दिष्टाः। एतेः विंशतिः भेदास्तावत् – १. अध्यात्मशून्यता २. बहिर्घाशून्यता ३. अध्यात्मबहिर्घाशून्यता ४. शून्यताशून्यता ५. महाशून्यता ६. परमार्थशून्यता ७. संस्कृतशून्यता ८. असंस्कृतशून्यता ९. अत्यन्तशून्यता १०. अनवराग्रशून्यता ११. अनवकारशून्यता १२. प्रकृतिशून्यता १३. सर्वधर्मशून्यता १४. लक्षणशून्यता १५. उपलम्भशून्यता १६. अभावस्वभावशून्यता १७. भावशून्यता १८. अभावशून्यता १९. स्वभावशून्यता २०. परभाशून्यता इत्येते प्रमुखाः।

**३.३. नागार्जुनकृतं शून्यतासाधनम्–** नागार्जुनाचार्येण 'विग्रहव्यावर्तनी' नामके ग्रन्थे पूर्वपक्षमतखण्डनपुरःसरम् उत्तरपक्षत्वेन शून्यवादः प्रतिष्ठापितः।

**३.३.१. पूर्वपक्षः**

पूर्वपक्षत्वेनोक्तं यद्भावनानां शून्यता न युक्ता। कारणं यदि सर्वभावानां हेतौ प्रत्ययेषु च हेतुप्रत्ययसामग्र्याञ्च पृथक् च यत्र सर्वत्र स्वभावो न विद्यते इति कृत्वा शून्याः सर्वभावाःतर्हि अनेन शून्येन सर्वभावस्वभावव्यावर्तनमशक्यं कर्तुं कारणं यथा ह्यसदग्निना न शक्यं दग्धुं, न ह्यसता शस्त्रेण शक्यं छेत्तुं तथैव नैव असता वचनेन अशक्यः सर्वभावस्वभावप्रतिषेधः कर्तुं, अशक्यश्च सर्वस्वभावो निवर्तयितुम्। उक्तं हि–

---

8 "प्रपञ्चो हि वाक् प्रपञ्चप्रत्यर्थानिति कृत्वा वाग्भिरव्याहृतमित्यर्थः" – माध्यमिकवृत्तिः, पृ० ३७३।

9 माध्यमिकवृत्तिः, पृ० ३७४।

10 तत्रैव, पृ० ३७४।

11 Dr. Suzuki- Essays in Zen Buddhism (Third series) P. 222-227.

"सर्वेषां भावानां सर्वत्र न विद्यते स्वभावश्चेत्।
त्वद्वचनमस्वभावं न निवर्तयितुं स्वभावमलम्॥"[12] इति।

किञ्च यदि सर्वभावस्वभावस्य शून्यत्वं स्यात् तर्हि 'सर्वं शून्यम्' इति वचनस्य सर्वभावान्तर्गतत्वात् तद्वचनस्य शून्यत्वसाधकत्वं न स्यात्। एवं षड्कोटिको वादः प्रसक्तः। स पुनः कथमिति चेत्–

१. हन्त चेत् शून्याः सर्वभावाः इति सर्वभावान्तर्गतत्वात् तद्वचनस्यापि शून्यत्वम्। तेन यः शून्यः सर्वभावः इति प्रतिषेधः सोऽनुपपन्नः।

२. शून्याः सर्वभावाः इति प्रतिषेधः उपपन्नश्चेत् तद्वचनशून्यत्वादनेन प्रतिषेधः अनुपपन्नः।

३. अथ शून्याः सर्वभावास्त्वद्वचनञ्चाशून्यम्। येन प्रतिषेधस्तेन त्वद्वचनं सर्वत्रासंगृहीतम्। तत्र दृष्टान्तविरोधः।

४. सर्वत्र चेत् पुनः गृहीतं त्वद्वचनं सर्वभावाश्च शून्याः। तेन तदपि शून्यम्। शून्यत्वादनेन नास्ति प्रतिषेधः।

५. शून्यमस्ति चानेन प्रतिषेधः शून्याः सर्वभावा इति। तेन शून्यापि सर्वभावाः कार्यक्रियासमर्था भवेयुः। न चैतदिष्टम्।

६. अथ शून्याः सर्वभावाः न च कार्यक्रियासमर्था भवन्ति, मा भूद् दृष्टान्तविरोध इति कृत्वा शून्येन त्वद्वचनेन सर्वभावस्वभावप्रतिषेध नोपपन्न इति।

तस्माद्यदुक्तं शून्याः सर्वभावा इति तन्न। दृश्यते हि लोके असिद्धवस्तूनां नामाभावत्वं सिद्धानां च नामत्वम्। तस्मात् प्रमेयत्वात् सर्वभावस्वभावत्वं स्वीकार्यम्। किञ्च यदि प्रत्यक्षतः सर्वभावानुपलभ्य निवर्त्यते शून्याः सर्वभावाः इति तदनुपपन्नम्। प्रत्यक्षप्रमाणमपि सर्वभावान्तर्गतत्वात् शून्यम्। योऽपि सर्वभावानुपलभते सोऽपि शून्यः। तस्मात् शून्याः सर्वभावा इति यदुक्तं तदनुपपन्नम्। उक्तं हि–

"यदि च न भवेत् स्वभावो धर्माणां निःस्वभाव इत्येवम्।
नामापि भवेत् नैव नामापि निर्वस्तुकन्नास्ति॥"[13] इति।

इह जगति सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः क्रियते नासतः। तद्यथा नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य प्रतिषेधः क्रियते नासतः। एवमेव नास्ति भावो धर्माणामिति सतः स्वभावस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति नासतः।

किञ्च सर्वेभावाः अशून्याः संख्याया उपपन्नत्वात्। विद्यन्ते एव एकः द्वौ बहवः इति संख्याः। संख्याः अपि भावेषु सत्सु उपपद्यन्ते तस्मात् सर्वे भावाः न शून्याः। तस्मात् सर्वं शून्यम् इति माध्यमिकराद्धान्तो न समीचीनः।

**३.३.२. सिद्धान्तपक्षः**

उपर्युक्तपूर्वपक्षमतखण्डनपुरःसरं सिद्धान्तपक्षत्वेन नागार्जुनाचार्येण निगदितं यत् वचनस्य शून्यतास्वीकारेऽपि भावानां शून्यता युक्ता। शून्यत्वं सिद्धं हेतुप्रत्ययसामग्रीविनिर्मुक्तत्वात् भावानां निःस्वभावत्वात्। तस्मात् निःस्वभावत्वाच्छून्या इत्यभिधीयन्ते। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् निःस्वभावा अपि भवनिःस्वभावप्रसादनसमर्थाः सन्ति। सर्वं शून्यमिति वचनस्य निःस्वभावत्वात् सर्वभावस्वभावप्रतिषेध उपपन्नः। पूर्वं यदुक्तं सर्वभावस्य शून्यत्वे सति सर्वं शून्यम् इति वचनस्यापि

12 विग्रहव्यावर्तनीकारिका – १।

13 विग्रहव्यावर्तनीकारिका – ९।

सर्वभावान्तर्गतत्वात् तद्वचनस्य शून्यत्वसाधकत्वं न स्यात् इति चेन्न कारणं इदमपि वचनं शून्यम् शेषा अपि सर्वभावाः शून्यास्तस्मान्नास्ति वैषमिकत्वम्। यदि हि ब्रूमः इदम्वचनमशून्यं शेषाः सर्वभावाः शून्या चेत् वैषमिकत्वं स्यात्। उक्तं च नागार्जुनाचार्येण–

"न स्वाभाविकमेतद्वाक्यं तस्मान्न वादहानिर्मे।

नास्ति च वैषमिकत्वं विशेषहेतुश्च न निगाद्यः ॥"[14] इति।

प्राक् पूर्वपक्षत्वेन यदुक्तं नामसत्वे न सर्वेषां शून्यत्वं तन्न समीचीनम्। न ह्यसद्भूतस्य स्वभावस्य सद्भूतं नाम भवति। न नाम सद्भूतं, तस्मात् स्वभावस्याभावान्नाम निःस्वभावत्वात् शून्यम्। शून्यत्वात् नामापि असद्भूतम्। तस्माद्यदुक्तं नामसद्भवात् सद्भूतः सर्वभावः इति तु न समीचीनम्। उक्तं च नागार्जुनाचार्येण विग्रहव्यावर्तन्याम्–

"यः सद्भूतं नाम ब्रूयात् स स्वभाव इत्येवम्।

भवता प्रतिवक्तव्यो नाम ब्रूमश्च न वयं सत् ॥"[15] इति।

संख्यायाः विद्यमानत्वात् सर्वभावस्य शून्यत्वमिति यदुक्तं तत्तु खण्डनयोग्यम्। यतो हि असति एकत्वे अनेकत्वो न प्रवर्तते। अनेकत्वाभावेऽपि एकत्वानुपपत्तिः। तस्मात् सापेक्षत्वात् शून्यत्वे संख्याः अनिमित्तकाः।उक्तं हि–

"नैकत्वेऽनेकवृत्तिर्न नोऽनेकत्वे हि नैकता।

तत्प्रतीत्यसमुत्पन्नभावास्ते ह्यनिमित्तकाः ॥"[16] इति।

**४. शून्याद्वैतयोः साम्यम्**

अद्वैतवाद एवास्य शून्यवादस्य प्रतिष्ठा। सदसत्सदसदुभयात्मकसदसद्विलक्षणरूपाभ्यश्चतसृभ्यः कोटिभ्यः शून्यं सत्यमेव शून्यपदवाच्यम्। इदमद्वयं परमार्थसत्यम्। अतो माध्यमिकमते अद्वयमेव तत्त्वम्। माध्यमिककारिकायां नागार्जुनाचार्येण यच्चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वमुक्तं तदपि अद्वयमेव। बुद्धस्यैकं नामैव 'अद्वयवादी' आसीत्।[17] बोधिचित्तविवरणे[18]ऽपि शून्यवादः अद्वयलक्षणानाम्ना अभिहितः।

माध्यमिकमतस्य शङ्कराद्वयमतेन सहातीव साम्यमस्ति। शङ्कराचार्यस्य परमगुरुणा गौडपादाचार्येण उपर्युक्तमाध्यमिकवचनं प्रायोऽनुसृतम्–

"अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।

चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः॥

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।

भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥"[19] इति।

---

14 तत्रैव – २३।

15 तत्रैव – ५८।

16 शून्यतासप्ततिः – ७।

17 "षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः" इति अमरकोषः – १/१४।

18 "भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा" बोधिचित्तविवरणस्य वचनमिदं भामतीकृता भामत्याम् (२/२१८) उपन्यस्तम्।

19 गौडपादकारिका – ४/८३-८४।

गौडपादस्याजातवादेऽपि नागार्जुनाचार्येण सममर्थतः शब्दतोऽपि साम्यमवलोक्यते। यथा हि नागार्जुनाचार्येण–

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥"[20] इति।

गौडपादाचार्यस्य शब्दा यथा–

"स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥"[21] इति।

माध्यमिकाभिमतं परमार्थतत्त्वं यथा मनसा वाचातीतं विद्यते, शङ्कराचार्यसम्मतं परमार्थतत्त्वमप्यस्मिन् विषये तथैव अनिर्वचनीयम्।

न केवलं शून्याद्वैतयोः स्वरूपे साम्यम्, फले साम्यमपि दृश्यते। यथा ब्रह्मज्ञानोत्तरम् अज्ञानादिनाशपूर्वकं परमसत्यरूपेण मोक्षः प्राप्यते तथैव यथार्थशून्यस्वरूपज्ञानेन प्रपञ्चोपशमपुरःसरं निर्वाणं प्राप्यते।

**५. समीक्षणम्**

शून्यशब्दब्राह्मणदर्शनेषूपलभ्यते। अस्यार्थस्तावत् सकलसत्तायाः निषेधः। परन्तु नेदम् अभावपदवाच्यम्, नापि नास्तिपदवाच्यम्। अविद्यया अस्मादेव शून्यात् समस्तमपि जगदभिव्यक्तं भवति। शून्यं नापि सन्नापि असत्। यतो हि घटादेः सत्त्वभावे तु घटकर्तृकस्य कुलालस्य व्यापारवैयर्थ्यापत्तिः। किञ्च असत्वभावे तु कुम्भकारेण कदापि घटोत्पत्तिः असम्भवेत्। तस्मात् घटो नापि सन्नाप्यसत्। यथा आकाशस्य सतो विद्यमानत्वात् कारणमनपेक्षम्, किञ्च आकाशकुसुमस्य सतोऽविद्यमानत्वात् कारणमसम्भवं तथैव घटस्यापि। यथा हि –

"न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥"[22] इति।

तस्माच्छून्यं सदसद्भ्यां विलक्षणम्। सदसच्च उभयमपि शून्यस्य गर्भे प्राप्तनिर्वाणं सदवतिष्ठते। किञ्च शून्यं नापि सदसत् नापि असन्नासत्। विरोधादुभौ पक्षावनुपपन्नौ। तस्मात् क्वचिदपि पक्षे अस्थीयमानत्वात् चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् अनिर्वचनीयतत्त्वमेव शून्यपदवाच्यम्। परन्तु नागार्जुनाचार्येण प्रतिपादितम् इदं शून्यतत्त्वं निषेधात्मकं चेदपि न अभावात्मकम्। जगन्मूले विद्यमानत्वात् शून्यं भावरूपम्। ननु सर्वेषां शून्यत्वात् अस्माभिः दृश्यमानस्य जगतः का गतिश्चेत्, दृष्टार्थव्यवहारस्तु स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। सर्वे धर्माः स्वभावरहिता इति नागार्जुनाचार्यस्य परमसिद्धान्तः। परपक्षखण्डनपरस्यापि नहि कश्चिदपि स्वकीयपक्षः। 'सर्वे धर्माः स्वभावरहिताः' अस्य तात्पर्यं शून्यमेव, यद्धि परमार्थसद् विद्यते। बौद्धदर्शनं वस्तुतो निःस्वभावम् अनिर्वचनीयमलक्षणमिदं शून्यमेव परमतत्त्वं मन्यते। इदमेव महानिर्वाणपदवाच्यम्। इदमेव पदमासाद्य साधकः प्राप्तपरमपदो भवति।

**६. उपसंहृतिः**

---

[20] माध्यमिककारिका – १/७।

[21] गौडपादकारिका – ४/२२।

22 सर्वदर्शनसंग्रहः,बौद्धदर्शनम्, कारिका – १०।

माध्यमिकसम्प्रदाये संस्कृतभाषायां बहवो ग्रन्थाः लिखिता अभूवन्। प्रायेण सर्वाण्यापि माध्यमिकग्रन्थरत्नानि कालगर्भे निमज्जितान्यपि 'माध्यमिककारिका'सदृशानि कानिचन ग्रन्थरत्नानि इदानीमपि स्वमहिम्ना विराजन्ते। यद्यपि 'अकुतोभया'दीषु बहवः माध्यमिकाचार्याः स्मृताः परन्तु तेषां कृतयस्तु नोपलभ्यन्ते। याः उपलभ्यन्ते तास्तु चीनीतिब्बतीयभाषासु। अनेन शून्यताज्ञानेन च निर्वाणप्राप्तिः। तस्मादियं शून्यता मोक्षोपयोगिनी।[23] शून्यताज्ञानेन च अशेषकल्पनाजालप्रपञ्चविगमो भवति। यथा अद्वैतवेदान्तिनां ब्रह्मतत्त्वं तथैव माध्यमिकानां शून्यतत्त्वम्। तस्मात् बहुत्र शङ्कराचार्यः 'प्रच्छन्नबौद्धः' इत्यप्यभिहितः। वस्तुतस्तु शङ्कराचार्येण माध्यमिकमतम् अनादृतमेव- "शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिसिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते"[24] इति शिवम्।

23 "कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः।
ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते"॥ माध्यमिकाकारिका – १८/५।

24 ब्रह्मसूत्रम् – २/२/३१।

## परिशीलितग्रन्थसूचिः

उपाध्यायः, बलदेवः। २०१४। *बौद्धदर्शनमीमांसा*। वाराणसी : चौखम्बाविद्याभवन।

गौडपादः। १९७३। *गौडपादकारिका (रघुनाथशर्मकृताङ्लानुवादसहिता)*। पुना : भाण्डारकर-ओरियेन्टल्-रिसर्च-इनस्टिटिउट्।

नागार्जुनः। १९६०। *मध्यमकसूत्रम् (प्रसन्नपदाव्याख्योपेतम्)*। दरभङ्गा : मिथिलाविद्यापीठम्।

नागार्जुनः। १९६०। *विग्रहव्यावर्तनी (स्वोपज्ञवृत्तिसमेता)*। दरभङ्गा : मिथिलाविद्यापीठम्।

माधवः। २००४। *सर्वदर्शनसंग्रहः (प्रकाशव्याख्योपेतः)*। शर्मा, उमाशङ्करः (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बाविद्याभवन।

मोहान्तः, दिलीपकुमारः। २०११। *नागार्जुनकृत्तसवृत्तिशून्यतासप्ततिः (वङ्गभाषीयो ग्रन्थः)*। बेलुडमठ : रामकृष्ण-मिशन्-विवेकानन्द-विश्वविद्यालय।

शङ्करः। १९९८। *विवेकचूडामणिः (अद्वैतामृतबोधिनीव्याख्योपेतः)*। वाराणसी : चौखम्बाविद्याभवन।

शङ्कराचार्यः। २०००। *ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (परिमलकल्पतरुभामतीव्याख्योपेतम्)*। वाराणसी : चौखम्बा कृष्णदास अकादेमी।

# वृद्धेश्वरषडङ्गीविरचिते शान्तिदूतखण्डकाव्ये रसचर्चा

**डा.ज्ञानरंजनपण्डा**
**राष्ट्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः**
**तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः**

भारतीयकाव्यपरम्परायां यानि काव्यानि खण्डकाव्यानि विरचितानि तेषु शान्तिदूतमिति खण्डकाव्यमन्यतमम् । शान्तिदूतस्य रचनाकाले कविवरस्य भाषाशैली दार्शनिकतत्त्वम्, प्रकृतिवर्णनम्, वङ्गदेशस्य विहङ्गावलोकनं करोति ; भारतवर्षस्य वरपुत्रः रवीन्द्रनाथटैगोरमहोदयस्य जीवनवृत्तान्तोपरि आलोकपातं करोति । विश्वगुरुः रवीन्द्रनाथठाकुरमहोदयस्य काव्यकलाचातुर्यस्य व्यक्तित्वस्य चरितस्य च भाण्डागारं भवति शान्तिदूतम् । काव्यसङ्कलनेऽस्मिन् चतुस्सर्गविशिष्टे काव्यग्रन्थे रवीन्द्रनाथस्य अमायिकचरित्र-कृतित्व-व्यक्तित्व-वंशचरित-कालकूलसूचना-शान्तिनिकेतनविश्व-विद्यालयसौन्दर्यवर्णनादिविषयाः संक्षेपेण कृतं वर्तते ।

**शान्तिदूते रसविचारः —** शान्तिदूताख्यं काव्यं शमस्थायिभावकस्य शान्तरसस्य प्रकृष्टमुदाहरणं भवितुमर्हति । अर्थात् काव्येऽस्मिन् शान्तरसः प्रामुख्येन विराजते । अङ्गरसतया धर्मवीर-दयावीर-शृङ्गार-वात्सल्यादय रसाः सहृदयैरास्वादयितुं शक्यन्ते । एतेषां रसानां यथामति विचारोऽत्रोपस्थाप्यते ।

**शान्तिदूते शान्तरसः —** शमः स्थायीभावो यस् रसस्य सः शान्तः रसः इति कथ्यते । उत्तमप्रकृतिकः मनुष्यः अस्य रसस्य आलम्बनो भवति । कुन्दपुष्पं, शरच्चन्द्रश्च यथा सुन्दरः स्वच्छः ; तथैव अयं रसः स्वच्छो वर्तते । श्रीनारायणः अस्य देवता भवति । सांसारिकवस्तुनामनित्यत्वमात्मनः अहितकारित्वं च रसेऽस्मिन् प्रतिपाद्यते । वित्त-पुत्रादीनां पदार्थानां निस्सारता उच्यते । आत्मनः परमात्मनश्च स्वरूपं प्रदर्श्यते । पुण्याश्रमः, हरिक्षेत्रम्, रम्यवनम्, महापुरुषसङ्गतिः, मोक्षशास्त्रश्रवणमननादिः, धर्मविचारः इत्यादयः शान्तस्य उद्दीपकाः भवन्ति । सांसारिकदुःखं दृष्ट्वा जातः रोमाञ्चः, निर्वेदः, हर्षः, स्मरणम्, मतिः, सर्वजन्तुषु दया, धृतिः,

औत्सुक्यमित्यादयः व्यभिचारिभावाः कल्प्यन्ते । एवं शमस्थायिभावकः, अनित्यत्वाद्यालम्बनकः, पुण्याश्रमाद्युद्दीपितः, रोमाञ्चाद्यनुभावितः निर्वेदादिसञ्चारितः रसः शान्तरसः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे —

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।।
अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या ।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावा स्युर्व्यभिचारिणः ।
निर्वेद-हर्ष-स्मरण-मति-भूतदयादयः ।। *सा.द. ३/२४५-२४८*

प्रकृतकाव्ये सरस्वतीवन्दना, विश्वजनतानां रवीन्द्रकवितया तृष्णाशान्तिः, संसारस्य अलीकसुखम्, ग्राम्यश्रीः, हरिभक्तिः, महापुरुषसङ्गतिः, विश्वमङ्गलवार्ता, शास्त्रश्रवणमननादिः, आश्रमपदवर्णना, सदुपदेशामृतादयः बहवो विषयाः मनुष्याणां शान्तिप्रदायकाः वर्णिताः सन्ति । तत्र केचनात्रालोच्यन्ते ।

प्रकृतकाव्ये प्रारम्भिकपद्ये "सा विद्या विमुक्तये" इति प्रसिद्धसूक्तेः आधारेण प्रतिपादितायाः मोक्षमार्गोन्मोचिकायाः विद्यायाः वने यः अन्धकारो वर्तते, तस्य अन्धकारस्य नाशिका सरस्वती विद्यादात्री पूज्यते । यथा —

नमोऽस्तु शुक्लाम्बरशारदायै

विचित्रचित्राङ्कनसाधिकायै ।

विद्यावनध्वान्तविनाशिकायै

कृष्णाप्रियायै कविकीर्तिदायै ।। *शान्तिदूतम्. - १/१*

रवीन्द्रेण रचितं “गीताञ्जली” इति काव्यं शान्तिवार्तां वहति । सर्वेऽपि मनुष्या तच्छ्रवणमननेन स्वीयतृष्णां परिशामयन्तीति कविना उच्यते । यथा —

रसामृतासारनिवर्षकं यद्

गीताञ्जलिः काव्यमधु प्रदत्तम् ।

अद्यापि विश्वे सुहृदो हि तस्मात्

सुखेन तृष्णां परिशामयन्ति ।। *शा.दू. - १/४*

संसारस्यालीकसुखमपि कविना काव्येऽस्मिन् प्रोच्यते । यथा —

अलीकसंसारसुखानि यानि

ज्ञानाश्रितानां नरसेवकानाम् ।

सन्तापजालं वितरन्ति नित्यं

बुद्धादयः राजसुखं जहुस्तत् ।। *शा.दू. - १/६*

रवीन्द्रस्य ग्राम्यश्रीसेवाऽपि शान्तं द्योतयति । यथा —

क्षेत्राधिपत्याख्यविचित्रलक्ष्मीः

संसारसौख्यैर्बहुशश्चकर्ष ।

धूलिं विचिन्त्य प्रजहौ श्रियं तां

ग्राम्यश्रियं चाऽपि रवीन्द्रनाथः ।। *शा.दू. - १/७*

हरिभक्तिः, रवीन्द्रसङ्गतिश्चापि शान्तव्यञ्जकविषय एव । यथा –

यथा पृथिव्यां वृषमार्गभाजः

स्वापं लभन्ते हि हरेः पदाब्जे ।

तथा हि बङ्गे रविमार्गभाजः

प्रापुः सुखं ग्रामनिवासिनस्ते ।। *शा.दू. - १/११*

रवीन्द्रेण प्रतिष्ठितस्य शान्तिनिकेतनस्य आश्रमपदस्य वर्णनाऽपि अत्र शान्तरसं पोषयति । यथा —

विश्वशान्तिकरं स्थानं बोलेपुरे विधाय यः ।

शिक्षाध्वरं समारेभे नमामस्तं पुनः पुनः ।। *शा.दू. - ३/१*

यथा वा —

हसति प्रकृतिर्यत्र शान्तिवार्ताप्रदायिनी ।

कोकिलकाकलियुक्ता विश्वाहितविनाशिनी ।। *शा.दू. - ३/३*

पुनश्च —

वृक्षच्छायासु रम्याणां कक्षाणां कल्पनं कृतम् ।

मुक्ताङ्गणे रवेः पार्श्वे यत्र शिक्षा प्रदीयते ।। *शा.दू. - ३/४*

एवमपि —

शिक्षा हि देवता यत्र ज्ञानं तपः महात्मनाम् ।

सेवाधर्मः गुरुर्वृक्षः तद्धित शान्तिनिकेतनम् ।। *शा.दू. - ३/११*

एवं काव्यस्यास्य श्रवणमात्रेण, पठनमात्रेण वा मनसि सहृदयपाठकानामवश्यं सांसारिकभौतिकवस्तुनि प्रति विमुखता प्रजायते । अन्ते केचन श्लोकाः जनानां परधनकातरता-नारीनिन्दादयः केचन समाजविरोधिविषयाः अपि प्रतिपादिताः । तेभ्यः दूरे स्थातुं, मानवसेवा माधवसेवैव भवतीति मनसि निर्धार्य मानवानां सेवां कर्तुं गुरुषु भक्तिं प्रदर्शयितुं ये ये उपदेशाः अत्र प्रदत्ताः ते सर्वेऽपि शान्तोद्दीपका एव भवन्ति । अतः काव्यस्यास्य शान्तरसप्रधानत्वेन प्रतिपादनेन नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः ।

**प्रकृतकाव्ये वीररसः —** साधारणतः वीररसः चतुर्विधो भवति । यथा – दानवीरः, धर्मवीरः, युद्धवीरः, दयावीरश्चेति । एतेषु उत्साहः स्थायिभावः कथ्यते । प्रकृतकाव्ये धर्मवीरः, दयावीरश्चेति वीरद्वयमिदमास्वाद्यते इति कथयितुं शक्यते । तत्र रवीन्द्रनाथस्य धर्मनिष्ठता, मानवसेवातत्परतादयः गुणाः प्रतिपादिताः ।

धर्मवीरे धर्मः आलम्बनविभावः, धर्मशास्त्राध्ययनादिः उद्दीपनविभाः, यागानुष्ठानादयः अनुभावाः, रोमाञ्चः, धृतिः, मतिः, गर्वः, स्मृतिः, तर्क इत्येते व्यभिचारिणः भवन्ति । तदुक्तं साहित्यदर्पणे —

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।

महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ।।

आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।

विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।।

अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।

सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।।

स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ।।*सा.द. ३/२३२-२३४*

अत्र प्रकृतकाव्ये वङ्गमहापुरुषस्य कवीन्द्रस्य रवीन्द्रस्य उत्तमप्रकृतिकनायकस्य चरित्रं वर्ण्यते । तेन प्रणीतानां समाजस्य, साहित्यस्य च प्रगतये नवीनपद्धतीनां वर्णना अत्र क्रियते । जनकल्याणं तस्य प्रमुखं लक्ष्यमासीत् । विद्यावनस्य सः सिंह, सेवासमुद्रस्य चन्द्रः, काव्यस्य साक्षान्मूर्त्तिः, नृसेवा तस्य प्रधानधर्मः आसीत् । तदुक्तं कविना —

विद्यावनस्य प्रियकेसरी सः

सेवाब्धिचन्द्रः सितकाव्यमुर्त्तिः ।

प्रातिष्ठत श्रीर्बहुधा स्वदेशेऽ

समिध्यदेवात्र नृसेवनाग्नौ ।। *शा.दू. - २/३*

सः सङ्गीतसाहित्यहिमाले कैलासपुरं निर्माय साक्षान्नटराजरूपेण विराजते । अनेन तस्य पाण्डित्यवीरताऽपि प्रकाश्यते । यथोक्तं कविना —

सङ्गीतसाहित्यहिमालये यो

निर्माय कैलासपुरं सिषेवे ।

सोऽयं रवीन्द्रो नटराजतुल्यः

कल्याणजालैरभजच्छिवत्वम् ।। *शा.दू. - २/५*

रवीन्द्रकविता धर्मस्य मूलस्रोतो भवति । द्वितीयसर्गस्यान्ते कविः लिखति –

रवीन्द्रकाव्याम्बुधिवीचिमाला
स्नानाप्तसौख्येन सदा सुधीन्द्राः ।
सुखेन धर्मादिमधु स्वदन्ते
तपश्चरन्तो मुनयो यथा कौ ।। *शा.दू. - २/३१*

इत्येवं काव्येऽस्मिन् रवीन्द्रस्य धर्मवीरत्वम्, पाण्डित्यवीरत्वं च प्रतिपाद्यते । अत्र रसपरिशीलनेन सह वहवः विषयाः समुपोस्थापितो वर्तते। कविवरः समग्रेऽस्मिन् काव्ये सरलभाषया वङ्गप्रदेशस्य वरपुत्रविषये प्रतिपादनं करोति । तस्य काव्यकलाया आरभ्य कालकूलपरिचयेन सह शिक्षा, जीवनशैली, सारस्वतसाधना इत्यादिसर्वं वृत्तान्तं सुष्ठुरूपेण चतुस्सर्गेऽस्मिन् काव्ये वर्णयति कविः बुद्धेश्वरः । कविवरः स्वप्रयासेन काव्यस्यास्य महनीयतां वर्द्धयितुं सततप्रयत्नरतः दृश्यते । न केवलं वङ्गप्रदेशस्य वरपुत्रविषये अपि च समाजे नारीणां सम्माननम्, प्रकृतेः चित्रणम्, सामाजिकशिक्षापद्धतिः, भारतीयपरम्परायाः संरक्षणम्, समाजस्य सर्वविधप्रगतिः, छात्राणां संस्कारः, गुरूणां गौरवं कर्तव्यञ्च सर्वं वृत्तान्तमपि सूक्ष्मातिसूक्ष्मत्वेन विशदयति ।

# सहायकग्रन्थसूची

१) अग्निपुराणम् — व्यासमहर्षिः, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, २००९ ।

२) साहित्यदर्पणः — विश्वनाथः, भारतीय बुक् कर्पोरेसन्, दिल्ली, चतुर्थसंस्करणम् - २००० ।

३) रसगङ्गाधरः — पण्डितराजजगन्नाथः – कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् ।

४) वक्रोक्तिजीवितम् — आचार्यकुन्तकः — चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

५) नाट्यशास्त्रम् — भरतमुनिः — भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-२००३।

६) मेघदूतम् — कालिदासः — चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वादश संस्करण, वि.सं. २०५९ ।

७) संस्कृत साहित्येतिहासः — आचार्य रामचन्द्र मिश्रः — चौखम्बा विद्याभव, २००१ ।

८) छन्दश्शास्त्रम् — आचार्य पिङ्गल — परिमल पब्लिकेशन्, दिल्ली, २००७ ।

९) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः — वामन — चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, संस्करण तृतीय – २००३ ।

१०) ऋतुसंहारम् — महाकविकालिदासः – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१२ ।

११) ध्वन्यालोकः — आनन्दवर्धन – चौखम्बा संस्कृत भवनम्, २००४ ।

१२) काव्यप्रकाशः — आचार्य मम्मटः — परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, २०१० ।

१३) काव्यालङ्कारः — रुद्रटः — परिमल पब्लिकेशन्, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९९०

१४) काव्यादर्शः — दण्डी — एस्.विश्वनाथन्, श्रीबालमनोरमा सीरीज्, १९६३, चेन्नपुरी ।

१५) दशरूपकम् — धनञ्जयः — ओरिएण्टल बुक् सेन्टर, दिल्ली, २००४ ।

१६) शान्तिदूतम् — बुद्धेश्वर षडङ्गी, वनारस मार्केण्टाइल कम्पानी, २०१२ ।

१७) व्यक्तिविवेकः — महिमभट्टः — चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी, २००५ ।

# श्रीहर्षस्य वैयाकरणत्वविमर्शः

**अध्यापिका कादम्बिनी पाढी**

(अध्यापिका, अनन्तनारायणसंस्कृतमहाविद्यालयः, केन्द्रापडा.)

श्रीहर्षेण नैषधे व्याकरणस्य सिद्धान्तानां विवेचनं कृतम्। विद्याधर-मल्लीनाथ-चण्डूपण्डित-नारायणादयः टीकाकाराः अस्मिन् विषये संकेतं प्रदत्तवन्तः। श्रीहर्षस्य न केवलं व्याकरणे गतिरासीत्, अपितु स महान् वैयाकरण आसीत्। नैषधीये तस्य भाषाप्रयोगः अत्रार्थे प्रमाणं भवति। अत्र विषये कानिचित् उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते।

1 पाणिनीयव्याकरणे प्रथमाविभक्तेः प्राधान्यं विद्यते। प्रथमाविभक्तिविधानाय पाणिनिना **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा**[1] इति सूत्रं प्रणीतम्। एवञ्च **एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते** इति वचनं वर्तते।

विषयेस्विन् श्रीहर्षेण सम्यक् विवेचनं कृतम्। यदि सज्जनविभागविचारः क्रियेत, तदा सा नलाभिधाना व्यक्तिः प्रथमाभिधेया परिगणनीया। यतो हि या व्यक्तिः सौजसां विलासैः तथा प्रभूतं( नास्ति नामो नतिः यस्येति) अनामनम्रं पदं परराष्ट्रं साधयितुं समर्था स्यात्। अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता समासविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् तदा सा प्रथमा विचार्या, सा सौजसां प्रत्ययानां विस्तारैः अनेकं सुबन्तपदं निष्पादयितुं समर्था स्यात्। तद्यथा-

**क्रियेत चेत् साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया**

**या सौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्[2]।**

2 पाणिनिना **अपवर्गे तृतीया**[3] इति सूत्रं विरचितम्। अपवर्गः फलप्राप्तिः। तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यादिति सूत्रार्थः स्यात्। उदाहरणं यथा- अन्हा क्रोशेन वा अनुवाकोधीतः।

परन्तु चार्वाक्मतं समर्थयन् श्रीहर्षो वदति यत् तृतीया प्रकृतिः। संसारे प्रकृतित्रयं वर्तते। यथा – पुंमान्, स्त्री, नपुंसकम्। तत्र तृतीया प्रकृतिः अर्थात् नपुंसकजनः कामे असमर्थो भवति। अतः तस्य मोक्षे (अपवर्गे) आसक्तिरस्ति। परन्तु उभयप्रकृतिः अर्थात् स्त्रीपुरुषयोः मैथुने सामर्थ्यस्य सत्वात् कामसेवने रताः भवन्ति। एतन्मतं न केवलं चार्वाकाचार्यस्य अपितु सर्वमान्यपाणिनेरपि मतमिति श्रीहर्षः प्रतिपादयति। तद् यथा-

**उभयीप्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः**

**अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि[4]।**

3 **स्थानिवदादेशोनल्विधौ** इति सूत्रं पाणिनिना प्रणीतम्। आदेशः स्थानिवत् स्यात् न तु स्थान्यलाश्रयविधौ इति सूत्रार्थः। आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति। स्थानिधर्मिको भवति परन्तु अलाश्रये कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवति। स्थानिप्रयुक्तं यत् शास्त्रीयं कार्यं तदेवातिदिश्यते।

दमयन्त्याः स्वयवंरसभायां नलरूपधारिणमिन्द्रं प्रति उक्तिः व्याकरणसूत्रमाध्यमेन प्रदर्शयति। तद् यथा-

**स्वयं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्**

**किं स्थानिवद्यावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः [5]।**

इन्द्रः भैमीलाभरूपस्य कार्यस्य हेतोः आत्मानं नलात्मकादेशं कृत्वा नलरूपधारी सन् स्वोक्तेरन्यथा व्याकुर्वाणः सन् किमर्थं पापिष्ठभावं परस्त्रीवाञ्छामधत्त इति अस्य श्लोकस्यार्थः। किन्तु व्याकरणसूत्रमाधारीकृत्य श्लोकस्यापरमपि अर्थं स्फुटीभवति। यथा- तादृक्कृतव्याकरणो महेन्द्रव्याकरणस्य कर्तापि सन् सः पण्डितः इन्द्रः नैषेधादेशं विधाय ( तद्रूपधारणेन तदादेशो भूत्वा ) तस्य

अल्सम्बन्धिनः कार्यस्य हेतोः निषिद्धं स्थानिवद्भावं स्थानिवदादेशोनल्विधौ इत्यनेनाल्सम्बन्धिकार्ये स्थानिवदादेशस्य निषेधात् कथमधत्त।

4. यः काशीनगर्यां शरीरं त्यजति, तस्मै शिवः तारकब्रह्मणः उपदेशं ददाति। येन सः शिवसायुज्यं लभते। अर्थात् जीवः जन्ममरणबन्धनात् मुक्तो भवति। एतद् एकेन व्याकरणनियमेन उपमा प्रदर्शिता श्रीहर्षेण-

**सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाग्धिवादः**

**तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः**

**भूताभिधानपटुमदयतनीमवाप्य**

**भीमोद्भवे भवनिभावमिवास्ति धातुः[6]।**

पार्वतीपतेः सम्बन्धिनीं तां नगरीं काशीं प्राप्य भूतस्य सत्यस्य तारकब्रह्मरूपस्य उपदेशप्रापणे समर्थाम् अद्यतनी लुङ्गावाप्य अस्धातोः भूधातुत्वमिव ईश्वरस्य सायुज्यं गच्छति। अदादिगणे अस भुवि इति परस्मैपदी धातुः वर्तते। अद्यतनीविभक्तौ अर्थात् लुङ्लकारे **अस्तेर्भूः**[7] इति सूत्रेण अस्धातेः भू इत्यादेशे भवति। भवतीति भावमिव अस्तेर्भूः इति विधानात् अस्धातोः यथा भ्वादेशो भवति तथा भवस्य ईश्वरस्य सायुज्यं प्राप्नोति।

5. पाणिनिना **तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्**[8] इति सूत्रं विरचितम्। तेन लोट्लकारे तु इत्यस्य हि इत्यस्य च स्थाने तातङादेशो भवति। सूत्रमिदमाश्रित्य श्रीहर्षेण उषावर्णनं कृतम्। तथा हि –

**इह किमुषसि पृच्छांशसि किम्**

**शब्दरूपप्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः**

**भण फणिभवशास्त्रे तातङ् स्थानिनौ**

**काविति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्[9]।**

प्रातःकाले काकः कौ कौ इत्युच्चारणं कुर्वन्तं कोकिलं पृच्छति यत् व्याकरणे तातङादेशस्य स्थानिनौ कौ इति कोकिलः झटित्येवोत्तरं ददाति **तुहि तुहि** इति।

6. **दाधाघ्वदाप्**[10] इति सूत्रं पाणिनिना प्रणीतम्। अनेन दारूपस्य धारूपस्य च धातोः घुसंज्ञा विधीयते। घुसंज्ञाया- बहूनि प्रयोजनानि सन्ति। नेर्गदनदपद--- इत्यादिना सूत्रेण णत्वं भवति। यथा- प्रणिदापयति, प्रणिदारयति। प्रातःसमये कपोतस्य कूजनं श्रावं श्रावं कविः श्रीहर्षः कवयति यत्-

**दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रं ध्रुवमयमभवत् कोप्यधीती कपोतः**

**कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकण्ठिनी शेषभूषानुयातः**

**सर्वं विस्मृत्य दैवात्स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्तो घुसंज्ञा**

**प्राक्संस्कारेण सम्प्रत्यपि ध्रुवति शिरः पट्टिकापाठजेन[11]।**

कण्ठेशब्दसमूहस्य सिद्धिनिमित्तं पाणिनिशास्त्रमधीती कोपि कपोतः दौर्भाग्यात् सर्वं विस्मृत्य स्मृतिगोचरीभूतां घुसंज्ञां पुनः पुनः रटयति प्रातःसमये।

7. शास्त्रप्रयोगात् तोकप्रयोगो वलवत्तरो भवति। तदुक्तं यत्- यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नादरणीयं नाचरणीयम् इति। बहुषु स्थलेषु एतादृशः प्रयोगः कृतः यो न व्याकरणसम्मतः। श्रीहर्षेण एकं मनोहरमुदाहरणं समुपस्थापितम् –

**भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनिलोक एषः**
**शशे यदस्यास्ति शशी ततोयमेव मृगोस्यास्ति मृगीति नोक्तः[12]।**

अष्टाध्याय्यां **अत इनिठनौ** इति सूत्रं वर्तते। अकारान्तात् प्रातिपदिकात् इनिप्रत्ययः ठन्प्रत्ययश्च भवति। यथा- दण्डि, दण्डिकः। अनेन सूत्रेण शशः अस्यास्तीति शशी प्रयोगः सिध्यति। अत्र शशशब्दात् इनिप्रत्ययो विधीयते। एवञ्च चन्द्ररूपमर्थं बोधयति। परन्तु मृगः अस्यास्तीति मृगीति प्रयोगो न भवति। एवञ्च चन्द्ररूपेर्थे मृगीशब्दस्य प्रयोगः असाधुः। अतः वैयाकरणस्य दर्पं भङ्क्तुं एतादृशः प्रयोगो लोके स्वीकृतः इति चन्द्रोदयवर्णनप्रसंगे श्रीहर्षेण प्रत्यपादि।

**8. उपसंहारः** वस्तुतः सिद्धानां शब्दानामन्वाख्यानं क्रियते वैयाकरणैः। अत एव महाभाष्यकारेण पतञ्जलिना प्रोक्तं यत् – न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्या । पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्तनीयम्। लोकप्रयोगं समाश्रित्य लौकिकशब्दानां साधुत्वविधानाय पाणिनिना व्याकरणसूत्राणि प्रणीतानि। अतः बहुत्र भाषायाम् इत्युक्तम्। अनेनानुमीयते यत् नैषधकारः श्रीहर्षो महान् वैयाकरण आसीत्।

**पादटिप्पनी**

1 पा.सू. 2/3/46

2 नैषधः – 3/23

3 पा.सू. 2/3/16

4 नैषधः – 17/70

5 नैषधः – 10/136

6 नैषधः – 11/117

7 पा.सू. 2/4/52

8 पा,सू. 7/1/53

9 नैषधः – 19/60

10 पा.सू. 1/1/20

11 नैषधः – 19/61

12 नैषधः – 22/84

**सन्दर्भग्रन्थसूची**

1 नैषधीयचरितम् – श्रीहर्षविरचितम्- कृष्णदास एकादमी, वाराणसी, 1993

2 नैषधीयचरितम् – श्रीहर्षविरचितम्- प्रकाशव्याख्यासहितम्- मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1983

3 नैषध परिशीलन- डाँ. चण्डिका प्रसाद शुक्लः- हिन्दुस्तानी अकादमी,आलाहावाद।

4 महाभाष्यम् - पतञ्जलिविरचितम्- प्रदीपोद्द्योतसहितम्, चौखम्वा संस्कृत प्रतिष्ठानम्, दिल्ली, 1987.

# SRI RAMAKRISHNA AND HIS WAYS: A CRITIQUE OF SURVIVAL IN THE POSTMODERN SOCIETY

**Monalisa Mustafi**
**Assistant Professor**
**Department of Political Science**
**Khalisani Mahavidyalaya**
**Chandannagore, West Bengal**
**Email id:** monalisamustafi@gmail.com

**Abstract:** The paper is an attempt to find ways of survival in the postmodern society by following the tenets of Sri Ramakrishna as propounded by his *Kathamrita*. It deserves mention in this regard that all quotations of *Kathamrita* are taken from Swami Nikhilananda's *The Gospel of Sri Ramakrishna* (1942) and Swami Lokeswarananda's *The Way To God As Taught By Sri Ramakrishna* (1992). Jean- François Lyotard's notion of the postmodern society and the postmodern condition it entails for human beings are discussed to show the relevance of Sri Ramakrishna's thoughts and ideas even for twenty-first century man. Inculcating His idea of religious tolerance and the liberation of humanity is what help us to face today's world with an upright soul and a firm mind.

***Keywords:*** *Self, Hyperreal, Humanity, Postmodern, Knowledge.*

**Introduction:** In the second half of the twentieth century mass automobility, synthetic chemicals, widespread technological advancement, and atomic power ushered in a new era. At this juncture of history, the West experienced a philosophical discourse which marked a rejection of dominant 'Idealism'. Russell, Nietzsche and others advanced a new school of thought which considered "religion to be a thing of the past". Nietzsche proclaimed in his apocalyptic phrase "the death of god" (Leitch 873).

Jean-François Lyotard's *The Postmodern Condition* (1979) ushered in an age of "Enlightenment" to modern men who believed in reason and not in the "metanarratives". In our present time we live in a "global village"[1] where modernist philosophy is based on reason and pragmatism. However, as S. Radhakrishnan advocated that, the results of reason have been great, but greater have been the failures of reason.

**The Crises of Society:** Advancement of global capitalism has reduced us to the status of mere consumers. Everything seems to move with the market. We live in a "hyperreal" world as Baudrillard asserts, where "[t]here are no longer natural needs that human work strives to satisfy. Rather, there are culturally produced "hyperreal" needs that are generated to provide work and profits" (Leitch 1730). The crises that our society faces

today are the crises of every individual self. Every individual needs to understand one's "real-self".

**The Relevance of Sri Ramakrishna:** Herein lies the relevance of the nineteenth century Bengali priest Sri Ramakrishna. He tells us that attainment of knowledge or self-realization is the only reason for human existence. Swami Lokeswarananda has largely pointed out in his essay "The Greatest of Avatars" in his book *The Way To God: As Taught By Sri Ramakrishna* that Ramakrishna gave "a new definition of man." Moreover, Sri Ramakrishna "called him 'a fully-conscious-being', that is, a person endowed with Self-knowledge, a knower of Brahmin-that was a real man" (379). Julian Huxley has stated that there are three stages of growth-physical, mental and psycho-social. Huxley says, "[p]ersons are individuals who transcend their merely organic individuality in conscious participation" (Sarvabhutananda 444). Swami Vivekananda thus said, "*Jiva is Shiva*", which means that the living being is Divinity itself. In the contemporary world, in the search for our inner strength and potentialities, we need to take recourse to Sri Ramakrishna. Quite relevantly Swami Lokeswarananda cites Sri Ramakrishna's words in his essay titled "Plunge Deep into the Ocean of Immortality": "One must light the lamp of knowledge in one's heart" (Lokeswarananda 72). In order to undermine our "hyperreal" self, we require Ramakrishna's guidance. Sri Ramakrishna asserted that a realized soul experiences "*Brahman*" and thus he can love all creatures.

**Ramakrishna's *Kathamrita:*** Even in the midst of rapid scientific progress, we fail to seek an answer to the widespread atrocities, to the degradation of man in mechanization, sentimental hypocrisy, and widespread frustration. Ramakrishna has an answer to the cause of this frustration and also to the ways of overcoming it. As the *Bhagavad-Gita* pronounces: "*Ahaṁkāravimūḍhātmā kartāhamiti manyate*", so too Ramakrishna's *Kathamrita* tells us about the "unripe I" and the "ripe I" that lies in us (Lokeswarananda 62). It is our ego or the "unripe I" which overshadows us and thus is the source of all troubles. As Sri Ramakrishna says, "All troubles come to an end when the ego dies" (63). He pronounced that "The world consists of the illusory duality of knowledge and ignorance" (Nikhilananda 101). As long as we are ignorant of our inner-self, strife and feud will predominate.

**The modern man:** The disillusionment and loss of faith of the modern man is well portrayed in T.S. Eliot's "A Song for Simeon":

> Grant us thy peace,
> I have walked many years in this city,
> Kept faith and fast, provided for the poor,
> Have given and taken honour and ease.
> There went never any rejected from my door.
> Who shall remember my house, where shall live my children's children
> When the time of sorrow is come?
> They will take to the goat's path, and the fox's home,

Fleeing from the foreign faces and the foreign swords. (105)

**Jean-François Lyotard**: Further, the postmodern critic, Jean-François Lyotard in his essay, "Defining the Postmodern" argues that the crises of the "human entities", with regard to "security", "identity" and "happiness" arises as a result of the "development of techno-sciences" (1614). He further points out that mankind is divided into two parts, "one part confronted with the challenge of complexity; the other with the terrible ancient task of survival" (1614). In his essay, Lyotard critiques the "idea of Modernity" for its illusory beliefs in "enterprises, discoveries and institutions" as contributing to the "emancipation of mankind" (1613). In this respect modern man can have recourse to the *Kathamrita* wherein Ramakrishna says that "Shame, hatred, fear, caste, pride, secretiveness and the like are so many bonds" (Lokeswarananda 297). He further pronounces that "Man is free when he is liberated from all these" (298).

**Sri Ramakrishna's message:** By the use of beautiful parables and simple language, Sri Ramakrishna illustrated his vision of truth, the truth which was meant not only for nineteenth century Bengal, but for entire humanity. The impact of his message is endless and timeless. The conflicts of creeds and cultures, dogmas and doctrines, theologies and philosophies characterized his period. Though he never publicized himself as the moral and spiritual savior or "guru", still the masses, the intellectuals and also the westernized Indians of the nineteenth century "saw in Sri Ramakrishna the real India, the eternal India of renunciation, love, purity, longing for god, selflessness and humility" (Lokeswarananda 378). In our times, the proliferation of global capitalism undermines the political, social and economic fabric of many societies, making them vulnerable to the volatility of markets. It is thus the time that we should take recourse to the "Real Mahatman['s]" idea of religious tolerance (Lokeswarananda 380). In the words of Sri Ramakrishna, "Hindus, Mussālmans, Christians, Śāktas, Śaivas, Vaiṣṇavas, the Brahmajñānis of the time of the rishis", and even "the Brahmajñānis of modern times" whom he meant to be "Brāhmos", "seek the same object" (Lokeswarananda 353). To know Ramakrishna we need not be proficient of the *Vedas* and the *Upanishads*. But his ideas reveal "the reconciliation of many different and conflicting systems of philosophy and religion like Dualism and Monism, Dvaita, Advaita and Viśistādvaita" (Chatterjee 122).

We live in what Urich Beck calls a "risk society". Even in the age of arms race, nuclear weapons and widespread atrocities, we search for peace. Here lies the relevance of Sri Ramakrishna. Swami Vivekanana's call for " 'Help and not Fight' ", " 'Assimilation and not Destruction' ", " 'Harmony and Peace and not Dissension' " is the need for the day (Lokeswarananda 356).

**Conclusion:** While speaking on "Parson's concept of society as a self-regulatory system", Lyotard makes the following observation regarding a postmodern society:

> The true goal of the system, the reason it programs itself like a computer, is the optimization of the global relationship between input and output, in

> other words, performativity. Even when its rules are in the process of changing and innovations are occurring, even when its dysfunctions (such as strikes, crises, unemployment, or political revolutions) inspire hope and lead to belief in an alternative, even then what is actually taking place is only an internal readjustment, and its result can be no more than an increase in the system's "viability". (*The Postmodern Condition*)

The crises that our system faces are very well evident in these lines of Lyotard. However, in such an "entropic" situation one can have recourse to the ideals of Ramakrishna for whom self-realization was the only path of liberation (*The Postmodern Condition*). Thus, what we require today is – "Atmano moksartham jagaddhitaya ca" – that is "For one's own liberation and for the good of the whole world."

Books Consulted and Cited


1. Chatterjee, Satis Chandra. *Classical Indian Philosophies: Their Synthesis In The Philosophy Of Sri Ramakrishna*. University of Calcutta, 1963.
2. Eliot, T.S. "A Song for Simeon." *The Complete Poems and Plays of T.S. Eliot*. Faber and Faber, 1969.
3. Leitch, Vincent B. "Friedrich Nietzsche." Introduction. *The Norton Anthology of Theory and Criticism*, edited by Vincent B. Leitch, Norton, 2001, pp. 870-873.
4. Leitch, Vincent B. "Jean Baudrillard." Introduction. *The Norton Anthology of Theory and Criticism*, edited by Vincent B. Leitch, Norton, 2001, pp. 1729-1741.
5. Lokeswarananda. *The Way To God As Taught By Sri Ramakrishna*. The Ramakrishna Mission Institute of Culture, 1992.
6. Lyotard, Jean-François. "Defining the Postmodern." *The Norton Anthology of Theory and Criticism*, edited by Vincent B. Leitch, Norton, 2001, pp. 1612-1615.
7. Lyotard, Jean-François. *The Postmodern Condition: A Report on Knowledge*. Manchester UP, 1979. https://www.marxists.org/reference/subject/philosophy/works/fr/lyotard.htm.
8. Nikhilananda. *The Gospel of Sri Ramakrishna*. Ramakrishna-Vivekananda Centre, 1942.

Sarvabhutananda, editor. "Growth." *Bulletin of the Ramakrishna Mission Institute of Culture*, LX.10, 2009.

# आनन्दवर्धनमतानुसारेण ध्वनिविवेचनं ततो ध्वनिविरुद्धाः सम्प्रदायाश्च

मन्तेश्वर-वर्मनः

काव्यशास्त्रस्यैतिह्ये ध्वनिसम्प्रदायस्य इतिहास: अतीव गौरवशाली वर्तते। भारतीयकाव्यशास्त्रे षड्सम्प्रदाया: प्रसिद्धा: सन्ति ते च रससम्प्रदाय:, अलंकारसम्प्रदाय:, रीतिसम्प्रदाय:, ध्वनिसम्प्रदाय:, वक्रोक्तिसम्प्रदाय:, औचित्यसम्प्रदायश्चेति। तेषु षड्सम्प्रदायेषु ध्वनिसम्प्रदायस्य विशिष्टं स्थानमस्ति। तेभ्य: सर्वेभ्य: अधिक: प्रचारोऽस्यैव काव्यशास्त्रसम्प्रदायस्याऽभूत्। अस्य सम्प्रदायस्य प्रवर्तक: आचार्य: आनन्दवर्धन:। स: स्वकीये ध्वन्यालोकनाम्नि ग्रन्थे प्रतिपादयामास यत् ध्वनिरेव काव्यस्यात्मा। किन्तु काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति पूर्वपण्डितै:[1] कथित: अभवत्। एतद्भिन्नं आनन्दवर्धनाचार्यात् पूर्वमपि व्याकरणादिग्रन्थे पतञ्जलिकृते महाभाष्ये[2] स्थूलभावेन ध्वनिविषयकमालोचनं प्राप्यते। को नाम ध्वनि: इति जिज्ञासायामुच्यते यत् ध्वनि: इति शव्दस्य अर्थ: प्रतीयमानार्थ:। आनन्दवर्धनाचार्य: ध्वने: स्वरूपं वर्णयन् आह यत्र अर्थ: तथा वाच्यविशेष: अथवा शव्द: तथा वाचकविशेष: तं प्रतीयमानार्थं प्रकाशते, स काव्यविशेष: ध्वनिरिति पण्डितै: उच्यते[3]। तं ध्वनिं गृहीत्वा परवर्तिसमयोचितं वहुप्रख्यापनं दरीदृश्यते विभिन्नेषु ग्रन्थेषु। शब्दार्थौ खलु काव्यशरीरं भवति इति तु उक्तमेव। रसरूपार्थ: काव्यस्य भवति आत्मा। वाच्य: प्रतीयमानश्चेति काव्यार्थस्य भेदद्वयं वर्त्तते। आनन्दवर्धनाचार्यपादै: स्पष्टमुक्तं यत् काव्यार्थगतभेदद्वयमध्ये य: प्रतीयमानोऽर्थ: स हि ध्वनिरिति। एष प्रतीयमानार्थ: वाच्यादन्यो भूत्वा महाकवीनां वाणीषु सम्यग्रूपेण तिष्ठति।[4] एषोऽर्थ: ध्वनिकारेण तरुणीदेहगतलावण्येन सह तुल्यते तदीये ध्वन्यालोकग्रन्थे अङ्गनादेहलावण्यं यथा देहाश्रितं भूत्वापि प्रत्यक्षगोचरीभूतेभ्योऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तं हृदयाकर्षणकारणं वर्त्तते तथैव ध्वनिरुप: प्रतीयमानार्थ: सहृदयहृदयेषु प्रसिद्धगुणालंकारेभ्य: पृथग्रुपेण प्रतीयते[5]। एष ध्वनि: काव्ये अतीव चारुत्वं वहति। तस्यैवार्थस्य श्लाघां कुर्वन्ति सहृदया:। आनन्दवर्धनाचार्यपश्चाद्वर्तिन: मम्मट[6]-विश्वनाथ[7]-भोजराजप्रभृतय: आचार्याः ध्वनिसिद्धान्तस्य समर्थनं कृतवन्तः।

आनन्दवर्धनकृतध्वनिलक्षणे[8] प्रतिपदं सुमहत्वैशिष्ट्यमावहति। आलोच्यलक्षणे वाच्यार्थवाचकशब्दस्य प्रतीयमानार्थस्य च परस्परव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध: व्यङ्क्त: इति क्रियापदे सूचितोऽस्ति। केवलं व्यञ्जनाव्यापारेण त्रिविधध्वनिज्ञानं भवति, अभिधालक्षणाभ्यां नेति। आलोच्यकारिकायां तमर्थमिति पदस्यार्थ: प्रतीयमानार्थ: व्यङ्ग्यार्थ: वा। अर्थात् सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु[9] इत्यादिषु उल्लिखितं महाकवीनां यत्सुमधुरम् अर्थवस्तु प्रकाशते। सरस्वती अर्थात् वाणी, वाग्रूपा भगवती इत्यर्थः। महाकवीनां वाणी न साधारणं वाक्यम्। तेषां वाणी अलोकसामान्यप्रतिभया प्रतीयमानार्थविशिष्टः लोकोत्तरः महिमा लभ्यते। अभिनवगुप्ताचर्यः लोचने अस्मिन् प्रसङ्गे भट्टनायकस्य मतमपि उक्तवान्।[10] स्वयं वाग्देवी सरस्वती महाकवीनां

---

[1]. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति वुधैर्य: समाम्नातपूर्व:।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, कारिका- 1

[2]. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद् यथा- शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।, *महाभाष्यम्*, पस्पशाह्निकम्

[3]. यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:।।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, कारिका- 13

[4]. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृत्येभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु।, तत्रैव, वृत्तिभागः

[5]. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।, तत्रैव, कारिका- 4

[6]. लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव, अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादात् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्।, *काव्यप्रकाशः*, चतुर्थोल्लासः, वृत्तिभागः

[7]. तत् किं वस्तुलंकाररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा?, *साहित्यदर्पणः*, प्रथमः परिच्छेदः, वृत्तिभागः

[8]. यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:।।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, कारिका- 13

[9]. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु
निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।, तत्रैव, कारिका- 6

[10]. वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिः हि यः।।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योत:, श्लोकव्याख्याभाग:

कण्ठम् उपवसति। अस्य वचनस्य पुनरुच्चारणं ध्वन्यालोकः इति ग्रन्थस्य चतुर्थे उद्योतेऽपि दृश्यते। कारिकायाः वस्तुशब्देन अर्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे। अस्मिन् अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि जगति अनन्दवर्धनाचार्येण अलोकसामान्यदिव्यप्रतिभाविशिष्टाः द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः संख्याः परिगण्यन्ते।[11] उपसर्जनीकृतस्वार्थौ इति पदे उपसर्जनीकृतः अर्थात् गुणीकृतः अप्रधानीकृतः वा बोध्यते। स्व इति पदेन अर्थः बोध्यते। अर्थः इति पदे शब्दस्य योगः भवति। अभिनवगुप्ताचार्यः लोचने उक्तवान् स्वशब्द आत्मवाची[12]। स्वश्च अर्थश्च तौ स्वार्थौ, उपसर्जनीकृतौ याभ्याम् इति आशयः। आनन्दवर्धनाचार्यस्य सुस्पष्टं वक्तव्यं यत् ध्वनिकाव्ये शब्दप्रयोगः एवमेव करणीयः तत्र शब्दस्य वाच्यार्थः व्यङ्ग्यार्थं न अतिक्रामति, वाच्यार्थः तत्र अप्रधानः एव वर्त्तते। न केवलमिदं परन्तु ध्वनिकाव्ये वाच्यार्थात् व्यङ्ग्यार्थस्य सर्वथा प्राधान्यं वर्त्तते। वाचकशब्दः वाच्यार्थः च गुणालंकारैः सुप्रयुक्तः भविष्यति किन्तु लक्षनीयं यत् कस्मिंश्चित् अवस्थायामपि वाच्यवाचकभावः व्यङ्ग्यार्थं न अतिक्रामति। ध्वनिकाव्ये कदापि अर्थेण शब्दगुणीभूतो भवति, कदापि च शब्देन अर्थगुणीभूतो भवति। अर्थेण शब्दगुणीभूते आर्थीव्यञ्जना, शब्देन अर्थगुणीभूते शाब्दीव्यञ्जना भवति। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ आर्थीव्यञ्जना, अविवक्षितवाच्यध्वनौ शाब्दीव्यञ्जना च दृश्यते। कारिकायां व्यङ्क्तः इति पदेन स्पष्टकृतं यत् ध्वनिकाव्ये व्यञ्जनाव्यापारः हि प्रधानः एव। अभिधालक्षणातात्पर्यानुमानप्रभृतिभिः ध्वनिकाव्यं कदापि न सम्भवति। अत्र व्यङ्क्तः इति पदे द्विवचनप्रयोगेण स्पष्टीकृतं यत् शब्दः अर्थश्च उभौ व्यङ्ग्यस्य द्योतको भवति। अविवक्षितवाच्यध्वनौ शब्दः हि व्यञ्जकः एव प्रतिभाति, किन्तु अर्थोऽपि तत्र सहकारी भवति। अन्यथा यस्य शब्दस्य अर्थः अज्ञातः, सोऽपि व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकः भवति। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ तु शब्दस्य सहकारित्वमस्ति। अतो ध्वनिषु शब्दार्थयोः उभयोरपि ध्वननव्यापारः अस्ति। यत्र श्ब्दस्य प्राधान्यं तत्र शाब्दीव्यञ्जना, यत्र अर्थस्य प्राधान्यं तत्र आर्थीव्यञ्जना दृश्यते। एकः शब्दशक्त्युद्भवध्वनिः[13] उच्यते, अपरः च अर्थशक्त्युद्भवध्वनिः[14] इत्युच्यते। कारिकायां वा इति शब्दः प्राधान्याभिप्राये विकल्पार्थे प्रयुक्तो भवति। अर्थात् कुत्रापि शाब्दी व्यञ्जना, कुत्रापि वा आर्थी व्यञ्जना प्रधाना भवति। कारिकायां काव्यविशेषः इति पदे काव्यशब्दग्रहणाद् विशेषकाव्यम् अर्थात् ध्वनिकाव्यमिति सूच्यते। अभिनवगुप्ताचार्येण लोचने स्पष्टीकृतं यत् गुणालंकारयुक्तः विशिष्टशब्दार्थस्य पश्चाद्वर्त्ती प्रतीयमानार्थरूपध्वनिः इति नामकः आत्मा यत्काव्ये अस्ति स काव्यविशेषः इत्युच्यते[15]। अर्थात् ध्वनिः काव्यस्यात्मा वर्त्तते। आनन्दवर्धनाचार्यः मन्यते यत् अयं ध्वनिः हि सहृदयानां हृदयाह्लादकारी[16] भवति। कारिकायां स इति पदेन अर्थः, शब्दः, व्यापारः किंवा एषां समुदायः बोध्यते। अर्थः वाच्यं वाच्यार्थं च ध्वनितं करोति। शब्दोऽपि तद्रूपः। व्यङ्ग्यार्थः ध्वनितो भवति किंवा शब्दार्थयोः ध्वननव्यापारो भवतीति। अर्थात् ध्वनिः शब्दस्य, अर्थस्य अथवा उभययोः समष्टिगतव्यापारविशेषकाव्यरूपः भवति कारिकायां मुख्यभावेन उक्तिरियमस्ति। कारिकायां सूरिभिः कथितः इति पदप्रयोगेन पण्डितवैयाकरणानां[17] निर्देशः अस्ति। अर्थात् ध्वनिवादः आनन्दवर्धनाचार्यस्य कल्पनाप्रसुतः नास्ति। काव्यतत्त्वज्ञपण्डितैः काव्यविशेषरूपेण ध्वनिः इति स्वीक्रियते। तच्च परम्पराक्रमेण प्रचलति।

ध्वनिसिद्धान्तस्योपजीव्यं वैयाकरणानां स्फोटसिद्धान्तः वर्तते। तमेव सिद्धान्तमाश्रित्य ध्वनिसिद्धान्तस्य प्रवर्तनमभूत् तस्मादेव कारणात् ध्वनिवाद्याचार्यः मम्मटः ब्रुते बैयाकरणैः प्रधानरूपे गम्यमानस्फोटरूपव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकशब्दः ध्वनिः इत्युच्यते[18]। वैयाकरणानामनुसारेण यो हि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते सः शब्दः अनित्यः भवति। तदतिरिक्तः वर्तते स्फोटनामको नित्यः शब्दः इति। अर्थात् नित्यशब्दः स्फोटः इत्युच्यते, कार्यशब्दस्तु ध्वनिः इत्युच्यते। तस्मादेव सर्वे अर्थाः स्फुटन्ति। महर्षिपतञ्जलिकृतमहाभाष्ये ध्वनिः इति शब्दस्य उल्लेखः अस्ति[19]। शाब्दिकैः अष्टौ स्फोटाः स्वीक्रियन्ते। तत् यथा- वर्णस्फोटः,

---

[11]. येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिभागः

[12]. स्वशब्द आत्मवाची। स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा,
शब्दो गुणीकृताभिधेयः।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, श्लोकव्याख्याभागः

[13]. आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥, *ध्वन्यालोकः*, द्वितीयोद्योतः, कारिका- 21

[14]. अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्य्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः॥, तत्रैव, कारिका- 22

[15]. काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण 'आत्मे'त्युक्तम्।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, श्लोकव्याख्याभागः

[16]. यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्यतत्त्वम्।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिभागः

[17]. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।, तत्रैव

[18]. बुधैर्बैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।
ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।, *काव्यप्रकाशः*, प्रथमोल्लासः, वृत्तिभागः

[19]. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते।, *महाभाष्यम्*, पस्पशाह्निकम्

पदस्फोटः, वाक्यस्फोटः, अखण्डपदस्फोटः, अखण्डवाक्यस्फोटः, वर्णजातिस्फोटः, पदजातिस्फोटः, वाक्यजातिस्फोटश्चेति। एषु अष्टस्फोटेषु अखण्डवाक्यस्फोटः पारमार्थिकः अस्ति।[20] अस्य स्फोटस्य प्रयोजनाय अपरसप्तस्फोटाः कल्पिताः भवन्ति। आचार्यः भर्तृहरिः वाक्यपदीये स्फोटं हि ब्रह्मैव इति स्वीक्रियते[21]। शब्दस्य असाधारणमहत्त्वम् आचार्यः दण्डी अपि समुद्घोषयति। दण्डिना उक्तं यदि शब्दज्योतिः अर्थप्रकाशकत्वरूपेण आसंसारं न प्रकाशते तर्हि इदं स्वर्गमृत्युपातालरूपं विश्वं गाढान्धकारव्याप्तमिव जायेत[22]। अयमेव ध्वनिरित्यभिधीयते। वैयाकरणाः ध्वनिशब्दस्य प्रयोगम् अर्थाभिव्यञ्जकशब्दरूपार्थे कुर्वन्ति; किन्तु आलंकारिकाः ध्वनिशब्दस्य प्रयोगम् अभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयो विषये कुर्वन्ति। अयमेव तयोः सिद्धान्तयोर्भेदः वर्त्तते।

ध्वनिविरुद्धाः सम्प्रदायाः-

संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य इतिहासे आनन्दवर्धनाचार्यः ध्वनिसम्प्रदायस्य प्रवर्त्तकः इति सर्व्वैः ज्ञातमस्ति। तदीये ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनः ध्वनितत्त्वप्रतिस्थापनात् पूर्वं ध्वनिविरोधिनां सम्भाव्यविवादविषये सन्देहं प्रकटति। वस्तुतः ध्वनिविरोधिसम्प्रदायः आनन्दवर्धनाचार्यात् पूर्वं तत्सामयिककालेऽपि च आसीदिति आनन्दवर्धनाचार्यः तदीये ग्रन्थे प्रथमकारिकायाम्[23] उल्लिखितवान्। अत्र द्रष्टव्यं यत् आनन्दवर्धनाचार्यः ध्वनिविषयगताभाववादिमतवर्णनसमये जगदुः इति पदे अतीते लिट्[24] लकारस्य प्रयोगमकरोत्, परन्तु भाक्तवादिमतवर्णनकाले आहुः इति पदे वर्तमाने लट्[25] लकारस्य प्रयोगमकरोत्। अस्मिन् प्रसङ्गे अयमपि उल्लेखनीयः यत् आचार्यजयरथविरचितस्य रुय्यककृत- *अलंकारसर्वस्व*मिति ग्रन्थस्य *विमर्शिनी* इति टीकायां द्वादशप्रकारध्वनिविरोधिनाम् उल्लेखः अस्ति।[26] किन्तु आनन्दवर्धनाचार्येण स्वीयग्रन्थे इमानि ध्वनिविरोधिमतानि न कथ्यन्ते। स साकुल्येन त्रिप्रकारध्वनिविरोधिनाम् उपस्थितिं चिन्तयित्वा तेषां विरुद्धमतानि दूरीकर्तुं सम्यक् चेष्टते। ते त्रिप्रकारध्वनिविरोधिनः यथा- अभाववादी, भाक्तवादी, अनिवर्चनीयतावादी च।

(i)अभाववादः-

अभाववादिनां वक्तव्यं यत् गुणालंकारकाव्यशोभाकारात् भिन्नः ध्वनिनामकः कोऽपि नास्ति। प्रसिद्धप्रस्थानं त्यक्त्वा कश्चित् नूतनप्रारम्भः कदापि विद्वत्समाजे प्रसिद्धिं न लभते। ध्वनिः अपूर्वसृष्टिः नास्ति। काव्यशोभाकारिणि कस्मिंश्चित् गुणालंकारादिधर्मे ध्वनेः अन्तर्भावः भवति। अत्र उल्लेखनीयः यत् ध्वनिविषये अभाववादिनाम् उपर्युक्तं मतं सम्भाव्यध्वनिविरोधिमतमस्ति। सम्भाव्यः इत्यर्थे यत् ध्वनिविरुद्धवादिनाम् अभिमतम् आनन्दवर्धनाचार्येण प्रकल्पितमस्ति।[27]

---

[20]. तस्मात् वर्णन्यतिरिक्तो वैखर्यादिनादसहितवर्णाभिव्यङ्ग्यः अखण्डस्फटिकादिवत् पररूपग्राही व्यापकः मनोमात्रग्राह्यः स्फोटः अङ्गीक्रियते।, स्फोट*विमर्शिनी*टीका

[21]. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।, *वाक्यपदीयः*, ब्रह्मकाण्डः, कारिका- 1

[22]. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।, *काव्यादर्शः*, प्रथमः परिच्छेदः, कारिका- 4

[23]. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, कारिका- 1

[24]. तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः जगदुरिति।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[25]. अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण
भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम्।, तत्रैव

[26]. तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित् तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः।।
रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः।।, *विमर्शिनी* टीका

[27]. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, कारिका- 1

वस्तुत: आनन्दवर्धनाचार्य: अनुमन्यते यत् एवमेव ध्वनिविरोधिमतं भविष्यति। आनन्दवर्धनाचार्यस्य अभिमतं यत् अभाववादिनां सम्भाव्यत्रिप्रकारा: विकल्पा:[28] सम्भवन्ति। प्रथमो विकल्प: यथा- शब्दार्थशरीरं काव्यम्।[29] वस्तुत: दण्डिना उक्तं यत् अभीष्टार्थप्रकाशका रमनीयार्थजनका सहृदयहृदयाह्लादी विशिष्टपदावली काव्यस्य शरीरम्।[30] आचार्यभामहेन उक्तं यत् शब्दार्थसहितं काव्यम्।[31] तत: कुन्तकाचार्येण उक्तं यत् तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्।[32] पण्डितराजजगन्नाथेन उक्तं यत् लोकोत्तर: आह्लादजनक: शब्द: काव्यम्।[33] अर्थात् पुरातनाः नवीनाः च काव्यतत्वनिष्णाताः आचार्याः अस्मिन् विषये ऐक्यमत्यं प्रकाशयन्ति यत् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। किन्तु केवलमात्रं शब्दार्थसमन्वयेन काव्यं न भवति। शब्दार्थस्य शोभावर्धनकारिधर्मेण सह मिलित्वा शब्दार्थशरीरं काव्यमिति उपाधिप्राप्तो भवति। शब्दार्थशरीरविशिष्टकाव्ये शोभाप्रदायका: गुणालंकारा: काव्यस्य प्राणा: इत्युच्यन्ते।[34] अनुप्रासादय: शब्दालंकारा: उपमादय: अर्थालंकारा: माधुर्य्यादय: गुणाश्च काव्ये चारुत्वस्य हेतव: भवन्ति। शब्दात् शब्दालंकार: शब्दगुणश्च, अर्थाद् अर्थालंकार: अर्थगुणश्च काव्ये चारुत्वसृजनं करोति। अनेन कारणेन अनुप्रासादय: शब्दालंकारा: उपमादय: अर्थालंकारा: माधुर्य्यादय: गुणाश्च शब्दार्थशरीरमयकाव्यस्य चारुत्वहेतुरूपेण प्रसिद्धि: वर्त्तते। अनुप्रासादिशब्दालंकारात् शब्दस्वरूपगतचारुत्वोत्पत्ति:, शब्दगुणात् च पदसंघटनाश्रितचारुत्वोत्पत्ति: भवति। अनुरूपेण उपमादि: अर्थालंकारात् अर्थस्वरूपगतचारुत्वोत्पत्ति:, अर्थगुणात् पदार्थसंघटनाश्रितचारुत्वोत्पत्ति: भवति।[35] अतएव ध्वनि: यदि काव्ये चारुत्वस्य हेतु: भवति तर्हि तस्य गुणालंकारादिषु मध्ये अन्तर्भाव: वर्त्तते। अर्थात् गुणालंकारव्यतिरिक्त: ध्वनि: इति नामधेय: कोऽपि नास्ति इति आशयः। अत्र विप्रतिपत्ति: जायते यत् गुणालंकारव्यतिरिक्ता वृत्ति: रीतिश्च केन प्रकारेण काव्ये चारुत्वस्य हेतु: भवति। अस्मिन् प्रसङ्गे आनन्दवर्धनाचार्यस्य कथनमस्ति यत् वृत्ति: रीतिश्चापि गुणालंकारात् व्यतिरिक्ता नास्ति।[36] अतएव ध्वनि: शब्दार्थशरीरमयकाव्यस्य चारुत्वसृष्टिकारी हेतुरपि न भवति। अर्थात् गुणालंकारव्यतिरिक्त: ध्वनिनामक: काव्यशोभाकारि किमपि वस्तु नास्ति। अतः विरोधिनाम् आशयः यत् यदि ध्वने: अस्तित्वं हि नास्ति तदा स कथं काव्यस्य आत्मा भवति इति। अयमेव अभाववादिनिष्ठप्रथमपक्षस्य सम्भाव्यसिद्धान्त:।

इदानीं ध्वनिवादिनां युक्ति: यथा ध्वनि: शब्दार्थशरीरं न, काव्यस्य शोभावर्धनकारी गुणालंकारोऽपि न, किन्तु ध्वनि: यदि गुणालंकारात् भिन्न: कोऽपि भवति तदा का आपत्ति: वर्त्तते इति प्रश्नः समुदेति। तत: अभाववादिगतद्वितीयपक्षस्य वक्तव्यं यत् ध्वनि: नास्ति।[37] आचार्यपरम्परया काव्यस्य यानि प्रस्थानानि प्रसिद्धिप्राप्तानि तद्व्यतिरिक्तपृथक्प्रस्थाने विरचितकाव्यस्य काव्यत्वहानि: भवति।[38] यत: शब्दार्थे काव्यत्वस्य उत्पत्ति: कथं भवति तद्विषये आचार्यपरम्पराक्रमेण विभिनानि प्रस्थानानि प्रतिष्ठितानि सन्ति।[39] भरत-भामह-दण्डि-वामन-प्रभृतय: प्राचीनाचार्या: काव्यशास्त्रस्य सुनिपुनविचारपूर्वकं रसप्रस्थानं, अलंकारप्रस्थानं, गुणप्रस्थानं, रीतिप्रस्थानमिति विविधप्रसिद्धप्रस्थानै: अस्मिन् सिद्धान्ते उपनीता: भवन्ति यत् गुणालंकारेण सौन्दर्य्यमण्डित: भूत्वा शब्दार्थशरीरं काव्यं भवति। एतत्प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरिक्तनूतनभिन्नप्रकारप्रस्थानविरचितकाव्यस्य काव्यत्वसिद्धि: न भवति इति अभाववादिगतद्वितीयपक्षस्य युक्ति:।

---

[28]. तदभाववादिनां चामी विकल्पा: सम्भवन्ति।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, वृत्तिभाग:

[29]. तत्र केचिदाचक्षीरन्- शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्।, तत्रैव

[30]. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।, *काव्यादर्श:*, प्रथम: परिच्छेद:, कारिका- 10

[31]. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।, *काव्यालङ्कार:*, प्रथम: परिच्छेद:, कारिका- 15

[32]. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥, *वक्रोक्तिजीवितम्*, प्रथमोन्मेष:, कारिका- 7

[33]. रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्।, *रसगङ्गाधर:*, प्रथमाननम्, कारिका- 9

[34]. उक्तं हि- काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्य्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराश्च कटककुण्डलादिवत्।, *साहित्यदर्पण:*, प्रथमः परिच्छेदः, वृत्तिभागः

[35]. तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादय: प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादय:। वर्णसंघटनधर्माश्च ये
माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, वृत्तिभाग:

[36]. तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि, तत्रैव

[37]. अन्ये ब्रूयु:- नास्त्येव ध्वनि:।, तत्रैव

[38]. प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिण: काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहाने:।, तत्रैव

[39]. S. Dwivedi, DHVANYALOKA, Chaukhamba Surbharti Prakashan, Varanasi, 2013, P- 22-23

अधुना आनन्दवर्धनाचार्यः काव्यस्य सामान्यलक्षणं उक्तवान् यथा सहृदयानां हृदयाह्लादकारी शब्दार्थमयत्वं काव्यम्।[40] ध्वनिवादिनां वक्तव्यं यत् ध्वनिः शब्दार्थगुणालंकारात् भिन्नं नूतनवस्तु। यदि ध्वनिप्रस्थाने अभिज्ञसहृदयवर्गः हृदयाह्लादजनकं ध्वनिनामकम् अपूर्ववस्तु अनुभवति तदा सहृदयजनानाम् अनुभववेद्यध्वनिः कथम् अस्वीकार्यम्। अत्र अभाववादिनां युक्तिः यथा काव्यशास्त्रे ध्वनितत्त्वम् अप्रसिद्धम्। यतः आनन्दवर्धनाचार्यस्य ध्वनितत्त्वम् अप्रसिद्धं, तथा च ध्वनिनियमे अभिज्ञसहृदयव्यक्तिरपि कल्पितोऽस्ति। कल्पिताभिज्ञसहृदयजातः अप्रसिद्धवस्तुनः संज्ञा हास्यास्पदं भवति। काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति उक्तिरियम् अभिज्ञसहृदयान् परिकल्प्य प्रवर्त्तितः वर्त्तते।[41] यद्यपि ध्वनिवादिनाम् एषा युक्तिः सकलविद्वन्मनोग्राही कदापि न भवति।

अभाववादिनां तृतीयपक्षस्य वक्तव्यं यत् ध्वनिनामकस्य कस्यचिद् अपूर्ववस्तुनः सम्भावना नास्ति।[42] अत्र कारणं यत् ध्वनिः कमनीयतां नातिक्रामति। अतएव ध्वनिः इतिपूर्वं कथितचारुत्वहेतुसमूहे अन्तर्भवति। चारुत्वस्य हेतुसमूहानां मध्ये एकस्य भिन्ननामकरणेन नूतनवस्तु न समागच्छति। वाग्वैचित्र्यम् अनन्तम्। काव्यस्यापि बहूनि वाग्वैचित्र्यानि सम्भवन्ति, यानि अनुप्रासाद्यलंकारे अथवा माधुर्य्यादिगुणे न सन्ति। वस्तुतः ध्वनिः एषाम् अनन्तवाग्वैचित्र्याणां विकल्पमात्रम्।[43] सम्भवतः प्रसिद्धकाव्यलक्षणकारिणः भामहदण्ड्यादयः आचार्याः अस्य सूक्ष्मवैचित्र्यस्य वर्णनं न कृतवन्तः। किन्तु इदं सूक्ष्मवैचित्र्यं हि ध्वनिः इति अलीकचिन्तायाः कोऽपि हेतुः नास्ति। आचार्यपरम्परया नूतनसहस्रवैचित्र्याणि काव्यज्ञैः सृष्टानि। पूर्वाचार्यभरतस्य नाट्यशास्त्रे केवलं चत्वारः अलंकाराः[44] वर्त्तन्ते। किन्तु तत्पश्चात् विभिन्नैः आलंकारिकैः नूतनाः बहवः अलंकाराः प्रकाशिताः, प्रकाश्यन्ते च अधुना। परन्तु तैः आचार्यैः नूतनोद्भावनात् ध्वनिवादी एव न नृत्यते।[45] अतएव ध्वनिः नास्ति। वस्तुतः ध्वनिः प्रवादमात्रम् इति अभाववादिगततृतीयपक्षस्य युक्तिः।[46] प्रकृततः इमे सर्वे न अभाववादिनः, परन्तु अन्तर्भाववादिनः प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण।[47]

(ii) भाक्तवादः-

अपरः एकः ध्वनिविरोधी मतवादः भाक्तवादः इति। अस्मिन् भाक्तवादे लक्षणावादिनां वक्तव्यं वर्त्तते। अत्र उल्लेखनीयः यद् अभाववादिनां वर्णनाप्रदानकाले अतीतकालस्य[48] प्रयोगः अस्ति किन्तु भाक्तवादिनां वर्णनाप्रदानकाले वर्त्तमानकालस्य[49] प्रयोगो दृश्यते। कारणम् अनस्तित्ववादः सम्भावनामात्रम्, अतएव अतीतकाले प्रयोगोऽस्ति। किन्तु भक्तिवादः शास्त्रपरम्परया अविच्छिन्नधारायां प्रवाहमानः वर्त्तते। अतएव अत्र नित्यप्रवृत्तवर्त्तमानकालस्य प्रयोगोऽस्ति। भाक्तः इति शब्दस्य अर्थः लाक्षणिकः[50] गौणः[51] च। वस्तुतः भक्तिः, लक्षणा, गौणः, गुणवृत्तिः इत्यादि शब्दाः एकस्मिन् अर्थे प्रयुक्ताः भवन्ति। अत्र भक्तिशब्देन लक्षणावृत्तिः अथवा गौणीवृत्तिः निर्दिश्यते।[52] साधारणतः शब्दस्य व्यापारद्वयमस्ति। यथा- मुख्यव्यापारः गौणव्यापारश्च। अभिधया संकेतितार्थस्य बोधः मुख्यव्यापारः[53] एतद्भिन्नः केनचन प्रकारेण अर्थस्य बोधः गौणव्यापारः इति। प्रतीयमानार्थः

---

[40]. सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिभागः

[41]. कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।, तत्रैव

[42]. पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः- न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्।, तत्रैव

[43]. किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः।, तत्रैव

[44]. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥, *नाट्यशास्त्रम्*, सप्तदशोऽध्यायः, कारिका- 43

[45]. कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिभागः

[46]. सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः, प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते।
तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।, तत्रैव

[47]. एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बन्धा एव।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[48]. तस्याभावं जगदुरपरे, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, कारिका- 1

[49]. भाक्तमाहुस्तमन्ये, तत्रैव

[50]. भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतया उत्प्रेक्षते इति भक्तिः धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः।, *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[51]. गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्णादिर्भक्तिः। तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः।, तत्रैव

[52]. उपचारमात्रं तु भक्तिः।, *ध्वन्यालोकः*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिभागः

[53]. तत्र संकेतितार्थस्य वोधनादग्रिमाभिधा।, *साहित्यदर्पणः*, द्वितीयः परिच्छेदः, कारिका- 7

अभिधया संकेतित: वाच्यार्थ: न भवति। अर्थात् प्रतीयमानार्थ: गौणव्यापार:। अतएव भाक्तवादिन: ध्वनिस्थाने लक्षणां अथवा गौणीवृत्तिं स्वीकुर्वन्ति। ते मन्यन्ते ध्वनिनामक: कोऽपि नास्ति, यदस्ति तत् लक्षणानुगतमेव।

(iii)अनिर्वचनीयतावादः-

अनिर्वचनीयतावादः अपरः एकः ध्वनिविरोधी मतवादः। अनिर्वचनीयतावादिन: मन्यन्ते यत् विविधलक्षणनिरूपणे सुदक्षपण्डिता: अपि ध्वने: लक्षणनिर्णये असमर्था: जाताः। अतो ध्वनितत्त्वं वाक्यस्य अगोचरम्। ध्वनि: केवलमात्रं सहृदयानां हृदये अनुभूतो भवति, शब्देन न प्रकाशयोग्य:[54] ध्वनि: इति अनिर्वचनीयतावादिनाम् अभिमतम्। अत्र उल्लेखनीय: यत् ध्वनिविषये साकुल्येन पञ्चप्रकारा: ध्वनिविरोधिमतवादा: वर्त्तन्ते। यथा- त्रिप्रकारा: अभाववादिमतवादाः, भक्तिवादिमतवादः, अनिवर्चनीयतावादिमतवादश्च।[55]

ध्वनिविरोधिनाम् आचार्याणां मध्ये भट्टनायकाचार्य: अन्यतमः, स काश्मीरीय: आलंकारिक: आसीत्। तस्य *हृदयदर्पण:* इति नामकः ग्रन्थः अधुना लुप्तः जातः। किन्तु वहुग्रन्थेषु तस्य मतानि समुपलभ्यन्ते। भट्टनायकाचार्य: व्यञ्जनावृत्तिं न स्वीकरोति। रसास्वादनाय स अभिधां, भावनां, भोगीकृतिं च व्यापारत्रयं स्वीकरोति।[56] शब्दस्य मुख्यं गौणं च अर्थद्वयम् अभिधाया: विषय: इति तस्य अभिमतम्। रसास्वादनस्य परवर्तिव्यापार: भावना इति, साधारणीकरणमिति नाम्ना तत् वहुलप्रचलितमस्ति। आचार्यविश्वनाथकविराज: तदीये *साहित्यदर्पणे* उक्तवान् विभावादे: साधारणीकृतिनामका एकप्रकारका शक्तिरस्ति।[57] अनया शक्त्या रसास्वादनकाले व्यापारविशेष: परस्य, न च ममेति, मम न च परस्य इति भेदवुद्धिं न जायते।[58] रसास्वादनाय तृतीयव्यापार: भोगीकृति: इति। भोग: भुक्ति: वा रसास्वादनस्य तप्रसिद्ध: वर्त्तते।[59] आनन्दवर्धनाचार्यस्य ध्वनिसिद्धान्त: भावनाभोगीकृतिभ्यां सिद्ध: इति भट्टनायकस्य अभिमतम्। पक्षान्तरे ध्वनिवादिनाम् अभिमतं यत् भावना भोगीकृतिः च व्यञ्जनया सिद्धा भवति।

कुन्तकाचार्योऽपि ध्वनिविरोधिनां मध्ये अन्यतम: आलंकारिक: आसीत्। तस्य ग्रन्थस्य नाम *वक्रोक्तिजीवित*मिति। स: मन्यते यत् वक्रोक्ति: अर्थात् वैदग्धरचनाभनिति: काव्यस्यात्मा।[60] वक्रताया: षट् मूलभेदा: सन्ति। तत् यथा वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रवन्धवक्रता चेति। व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीयमानार्थस्य वा विचित्रवैचित्राणि वक्रोक्ते: विविधप्रकाशमात्रमेव इति कुन्तकाचार्यस्य अभिमतम्।

आचार्य: महिमभट्ट: अपि ध्वनिवादस्य प्रधान: विरोधी आसीत्। तस्य ग्रन्थस्य नाम *व्यक्तिविवेक*: इति। सोऽपि काश्मीरीय: पण्डित: आसीत्। महिमभट्टस्य अभिमतं यत् अभिधा हि एकैव शव्दशक्ति:, अर्थस्य शक्तिरपि लिङ्गता गमकता वा[61]। तस्य मतानुसारेण व्यञ्जनावृत्तिस्वीकारस्य किमपि प्रयोजनं नास्ति। स मन्यते व्यङ्ग्यार्थ: वाच्यार्थात् अनुमानेन प्राप्यते।[62] वस्तुध्वनि:, अलंकारध्वनिः, रसध्वनिश्च सर्वे अनुमानात् उत्पद्यन्ते[63]। इति तत्त्वं प्रतिस्थापनार्थं स *व्यक्तिविवेक*मिति ग्रन्थं

---

[54]. ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।, *ध्वन्यालोक:*, प्रथमोद्योत:, वृत्तिभाग:

[55]. एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः। *लोचनम्*, प्रथमोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[56]. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयः अंशभूता व्यापाराः। तत्रैव, द्वितीयोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[57]. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना सधारणीकृतिः।, *साहित्यदर्पण:*, तृतीय: परिच्छेद:, कारिका- 9

[58]. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।।, तत्रैव, कारिका- 12

[59]. भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत् किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुनालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्षते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुपत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्।, *लोचनम्*, द्वितीयोद्योतः, वृत्तिव्याख्याभागः

[60]. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।, *वक्रोक्तिजीवितम्*, प्रथमोन्मेष:, कारिका- 7

[61]. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयो: समस्तीत्युपपादितम्।।, *व्यक्तिविवेक:*, प्रथमो विमर्श:, कारिका- 27

[62]. तत्रैव

[63]. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने: प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।, तत्रैव, कारिका- 1

विरचितवान् ग्रन्थस्य प्रारम्भे तस्य उल्लेखः अस्ति। आनन्दवर्धनप्रदत्ते ध्वनिलक्षणे दशविधाः दोषाः सन्ति इति महिमभट्टेन प्रतिपाद्यते। अपि च महिमभट्टः आनन्दवर्धनस्य ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यभेदद्वयस्यापि विरोधी आसीत्।

अपरः एकः काश्मीरीयः आलंकारिकः क्षेमेन्द्राचार्यः ध्वनिविरोधिनाम् अन्यतमः प्रवक्ता आसीत्। तस्य ग्रन्थस्य नाम *औचित्यविचारचर्चा* इति। अयमाचार्यः प्रतिपादयामास यत् औचित्यमेव काव्यस्य जीवितमास्ति[64]। यत् वस्तु यस्य वस्तुनः निश्चयेन अनुरूपं सदृशं वा भवति, तत् आचार्यैः उचितं कथ्यन्ते।[65] अस्य उचितस्य भावं औचित्यमित्युच्यते[66]। क्षेमेन्द्राचार्यस्य मतानुसारेण गुणालंकाररीतिरसवृत्तिछन्दःसु सर्वत्र औचित्यमस्ति। अस्मिन् प्रसङ्गे उल्लेखनीयं यत् आनन्दवर्धनाचार्यः अपि औचित्यस्य गुरुत्वं स्पष्टरूपेण ध्वन्यालोके स्वीकृतवान्। तेन उक्तं यत् औचित्यविरोधः हि रसभङ्गस्य कारणम्[67]।

आनन्दवर्धनपरवर्ति-आलंकारिकविश्वनाथाचार्येणापि तदीये साहित्यदर्पणे प्रसङ्गक्रमेण ध्वनिकारस्य समालोचना क्रियते। विश्वनाथाचार्यः वस्तुध्वनिम् अलंकारध्वनिञ्च काव्यात्मरूपेण न स्वीकरोति। केवलं रसध्वनिं स काव्यात्मरूपेण स्वीकृतवान्।[68] एतत् वक्तुं शक्यते यत् साहित्यदर्पणकारः विश्वनाथाचार्यः प्रत्यक्षरूपेण ध्वनिविरोधी नासीत्, किन्तु तत्रभवान् आनन्दवर्धनकृतसिद्धान्तविषये स्थाने स्थाने मतान्तरं पोषयति।

---

[64]. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥, *औचित्यविचारचर्चा*, कारिका- 5

[65]. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।, तत्रैव, कारिका- 7

[66]. उचितस्य च यो भावस्तमौचित्यं प्रचक्षते॥, तत्रैव

[67]. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥, *ध्वन्यालोकः*, तृतीयोद्योतः, वृत्तिभागः

[68]. तत् किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्त्रीरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा ? तत्र नाद्यः,
प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेत् ओमिति ब्रूमः।, *साहित्यदर्पणः*, प्रथमः परिच्छेदः, वृत्तिभागः

## ग्रन्थानुक्रमणी

*अलंकारसर्वस्वम्*, रेवाप्रसाद द्विवेदी (स.), प्रथमसंस्करणम्, श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला-206, चौखाम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वराणसी, 1971
*काव्यप्रकाशः*, अनिलचन्द्र वसुः (स.), प्रथमसंस्करणम्, संस्कृत पुस्तक भाण्डार, कोलकाता, 2009
*काव्यमीमांसा*, गङ्गासागर राइ (स.), तृतीयसंस्करणम्, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला-121, चौखाम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1982
*काव्यालंकारः*, वटुकनाथ शर्मा बलदेव उपाध्यायश्च (स.), हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी संस्कृत सिरिज्-61, चौखाम्वा संस्कृत अफिस, वाराणसी, 1985
*काव्यादर्शः*, रङ्गाचार्यः रेड्डि शास्त्री (स.), गभर्णमेण्ट ओरियेण्टाल् सिरिज्, क्लास-A, नं-4, भाण्डारकर ओरियेण्टाल् रिसार्च इन्स्टिटिउट्, पुना, 1965
*काव्यालंकारसुत्रवृत्तिः*, अशोककुमार वन्द्योपाध्यायः (स.), प्रथमसंस्करणम्, सदेश, कोलकाता, 1415(वङ्गाब्दः)
*ध्वन्यालोकः*, अशोककुमार वन्द्योपाध्यायः (स.), षष्ठसंस्करणम्, संस्कृत पुस्तक भाण्डार, कोलकाता, 2008
*वक्रोक्तिजीवितम्*, सुशीलकुमार दे (स.), तृतीयसंस्करणम्, फार्मा के. एल. मुखोपाध्यायः, कोलकाता, 1961
*सरस्वतीकण्ठाभरणम्*, केदारनाथ शर्मा (स.), द्वितीयसंस्करणम्, निर्णय सागर प्रेस, वोम्बे, 1934
*साहित्यदर्पणः*, उदयचन्द्र वन्द्योपाध्यायः (स.), प्रथमसंस्करणम्, संस्कृत वुक डिपो, कोलकाता, 2000
*औचित्यविचारचर्चा*, व्रजमोहन झा (स.), तृतीयसंस्करणम्, चौखाम्वा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1982
*व्यक्तिविवेकः*, रेवाप्रसाद द्विवेदी (स.), चौखाम्वा संस्कृत सीरिज्, वाराणसी, 1964

# संस्कृतसाहित्ये शैवतत्त्वम्

डॅ. नवीनकुमारप्रधानः

• संस्कृसाहित्ये विद्यमानेषु उपनिषद् -भागवत-पुराण-आगम-वैष्णव-शैवसप्म्रदायेषु शेवसम्प्रदायः अन्यतमः। सर्वेषां सम्प्रदायानां विकासः एकमेव उद्देश्यम् आधारीकृत्य अभवत्। साम्प्रदायिकाचार्याणां मतानि भिन्नानि, तत्त्वं तु एकम्। तदेकं तत्त्वं भवति परमात्मनः प्राप्तिः संसारदुःखस्य निवृत्तिः च । शैवसम्प्रदायस्य आरम्भः देवाधिदेवमहादेवशिवतत्त्वात् अभवत् । शैवसम्प्रदायस्य मूलाधारः शैवागमः अस्ति । शैवागमः चतुर्णां वेदानां समकक्षः अस्ति इति श्रीकण्ठाचार्यप्रभृतयः अवदन्। शिवतत्त्वस्य वर्णनं यद्यपि उपनिषत्सु महाभारते, पुराणेषु च उपलब्धम् अस्ति, तथापि शैवागमग्रन्थेषु शिवतत्त्वस्य प्रामाणिकं तथ्यं निरूपितम् अस्ति । सर्वदर्शनग्रन्थस्य कर्त्ता श्रीसायणमाधवाचार्यः शिवतत्त्वं नकुलीशपाशुपत-प्रत्यभिज्ञारसेश्वरमतवर्णनसन्दर्भे साधु निरूपितवान्। यामुनाचार्यः शैवमतद्वयस्य वर्णनं कृतवान्। कापालिक कालामुखनामभ्यां तत् उपलभ्यते। दक्षिणराज्येषु शैवसम्प्रदायस्य वीरशैवमतलिङ्गायतसम्प्रदायः शैवसिद्धान्तरूपेण वर्णितोऽस्ति।

शैवसिद्धान्ततत्त्वप्रतिपादकाः अष्टाविंशतिः आगमाः सन्ति। शैवसिद्धान्तस्य उल्लेखः शुद्धाद्वैतरूपेण क्वचित् उपलभ्यते । शैवमतानुसारेण शुद्धाद्वैतस्य अर्थः अस्ति, शुद्धं नाम निर्विशेषम्। अद्वैतं नाम भेदरहितं न द्वैतम् इति । एतन्मते द्वैतं परमार्थतो सत्यम्। अद्वैतं सम्बन्धतः सत्यं भवति । जीवः जगत् च उभयं सत्यं नित्यं च अस्ति इति एते प्रतिपादयन्ति। जगज्जीवयोः शिवेन सह सम्बन्धः अपृथक् अभिन्नः किन्तु तत्त्वतः उभयमपि तत्त्वं शिवात् भिन्नम् इति । शैवसम्प्रदाये शिवः परमं तत्त्वं भवति। एतस्मिन् परमतत्त्वे अष्टौ गुणाः सन्ति–आत्मसत्ता, शुद्धता, स्वानुभूतिः, अनन्तज्ञानम्, निरतिशयं स्वातन्त्रम्, अनन्तप्रेम, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तानन्दादयः इति । यथा घटकार्यं प्रति कुम्भकारः निमित्तकारणम्। दण्डचक्रादयः सहकारिकारणम्, मृत् च उपादानकारणं भवति, तथैव जगत्कार्यं प्रति स्वयं महादेवः शिवः निमित्तकारणम्। शक्तिः सहकारिकारणम् माया उपादानं च भवति इति शैवाः प्रतिपादितवन्तः। शिवस्य शक्त्या सह सम्बन्धः तादात्म्यो भवति। शक्तिः चिद्रूपा, नित्या च अङ्गीकृता अस्ति । शुद्धसृष्टेः उपादानं महामाया माया वा मूलशक्तिर्भवति । एतस्याः शक्तेः अपरं नाम"परिग्रहशक्तिः" भवति। स्वयं देवाधिदेवः महादेवः शिवः सृष्टि-स्थिति-संहार-नियमन-अनुग्रहकर्त्ता भवति।

शैवमते जीवः बद्धः, मुक्तः इति भेदेन द्विविधोभवति। जीवः नित्यम् अस्ति। इच्छा-क्रिया-ज्ञानशक्तियुक्तः जीवः ज्ञाता भवति,कर्त्ता भवति, भोक्ता न भवति। स्थूल-सूक्ष्म-शरीरभेदेन अयं जीवः भिन्नभिन्नो भवति। मुक्तः ज्ञानेच्छा क्रियादिसम्बन्धरहितः सदा शुद्धरूपो भवति। पुनः एष जीवः विज्ञानकलः प्रलयकलः सकल इति भेदेन त्रिविधो भवति। आणवमलयुक्तः विज्ञानकलः अस्ति। आणव-कार्मणमलयुक्तः प्रलयकाल इति कथ्यते। आणव -कार्मण मायीयमलयुक्तः सकलो भवति। मुक्त्यर्थं मलत्रयसम्बन्धस्य विनाशः कारणं भवति । परमशिवे अनन्यभक्तिद्वारा जीवः मलत्रयात् मुक्तो भवति। एतन्मते शिवः स्वयं निष्फलः निर्मलः शुद्धः च भवति, इति वर्णितमस्ति।

जीवस्य शिवेन सह तादाम्यभावः मोक्षः इति। तादात्म्यपदं न ऐक्यार्थ्यबोधकम् अपितु अभिन्नार्थकबोधकमस्ति। परस्परं स्नेहपूर्णेन व्यवहारेण ईश्वरनुग्रहः प्रीतिः वा प्राप्यते इति शैवसम्प्रदायस्य मूलमन्त्रो भवति। (१)पाशुपतमतम्-शैवतत्त्वस्य पाशुपतमतम् अन्ततमम् अस्ति । शैवसम्प्रदाये जीवस्य अविद्यादिभिः

बन्धनकारणात् पशुत्वेन व्यवहारोऽस्ति पशूनां पतिः स्वामी स्वयं महेश्वरो भवति। तेन पशुपतिना उक्तं मतं पाशुपतमतम् इति । जीवानां पशुत्वेन महेश्वरस्य पशुपतित्वेन बोधकं इदं पद्यम् अस्ति, **ब्रह्मद्याः स्थापरान्ताश्च पशवः परिकीर्त्तिताः । तेषां पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ।।** एतन्मते पदार्थाः पञ्च भवन्ति ,कार्यं ,कारणं,योगः,विधिः,दुखान्तःइति। एतेषां पञ्चपदार्थानां तत्त्वज्ञानेन पञ्चविधमलानां नाशो भवति। ततः पाशुपतपदप्राप्तिः इति पाशुपाताः प्रतिपादयन्ति । कार्यमत्र पश्चादयः जीवाः, कारणम् स्वयं पशुपतिः शिवः, जपध्यानादिक्रिया योगः , व्रतं भस्मस्नानादिकं विधिः, दुःखनिवृत्तिपूर्वकमैश्वर्यप्राप्तिः दुःखान्तः इति एतन्मते निरूपितम् अस्ति। दुःखान्तः परमपुरुषार्थरूपेण पाशुपतमते वर्णितः । दुःखान्तः द्विविधो भवति-(१) अनात्मकदुःखान्तः (२)सात्मकदुःखान्तश्च। त्रिविधो दुःखोच्छेदरूपः अनात्मकदुःखान्त इति कथ्यते। दृक्शक्तिक्रिया शक्तिसहितम् ऐश्वर्यं सात्मकदुःखान्त इति उच्यते।

दृक्शक्ति एतन्मते यद्यपि एका भवति, तथापि विषयसम्बन्धात् एषा पञ्चविधा भवति। तद्यथा , दर्शनम् , श्रवणम्, मननं, विज्ञानम्, च । (१) सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-अशेषचाक्षुषस्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनं भवति। (२)अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम् अस्त। (३) समस्तचिन्तविषयं सिद्धिज्ञानं मननम् अस्ति। (४)निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतः अम्स्य सिद्धिज्ञानं विज्ञानं भवति। (५) उक्तानुक्तशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितं सिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वम् इति उच्यते।

क्रियाशक्तिरेकापि त्रिविधा भवति । (१)मनोजवित्वक्रियाशक्तिः (२) कामरूप-क्रियाशक्तिः (३)विकरणधर्मा क्रियाशक्तिः च । तिरतिशीघ्रगामित्वं मनोजवत्वं भवति। कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वच्छया एव अनन्तलक्षणविलक्षणसरूपकरणाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वं भवति। उपसंहृतकरणस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणधर्मित्वम् अस्ति। पाशुमतमते समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारी साक्षात् पशुपतिः महेश्वरः एव । तस्य पतित्वं निरतिशयदृक्-क्रियाशक्तिमत्त्वम् अस्ति। तस्य आद्येन,अनागतेन आगन्तुकेन ऐश्वर्येण सह नित्यः सम्बन्धो भवति। पाशुपतशास्त्रेण विना यथावत् तत्त्वनिर्णयः न सम्भवति। पुरुषार्थं कामयमानेन पुरुषेण अवश्यं पाशुपतशास्त्रं पठनीयं भवति।

रघुवंशमहाकाव्यस्य प्रारम्भे विघ्नविनाशाय, काव्यनिर्माणशक्तिलाभाय तथा शब्धार्थयोः ज्ञानाय महाकविः कालिदासः समग्रजगतां पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दते। यथा पार्वती परमेश्वरयोः सम्बन्धः नित्यः तथैव शब्दार्थयोः अपि सम्बन्धः नित्यः शाश्वतश्च। यथा कवेभाषया -

**वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतीत्तये।**
**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।(रघु.१/१)।**

पुनश्च महाकविना कालिदासेन विरचितस्य कुमारसम्भवमहाकाव्यस्य पञ्चमसर्गे शिवनिन्दाखण्डनावसरे पार्वती ब्रह्मचारिणं उक्तवती यत्, असौ शिवः यद्यापि दरिद्रः तथापि स अखिलसंपदां कारणं , श्मशानवासी अपि त्रिलोकनाथः भयङ्कररूपः अपि सः शान्तः शिवः इति कथ्यते । इत्थं भगवतः शिवस्य

चरित्रं अत्यन्तं रहस्यमयं वर्त्तते। तस्य विषये प्रकृततत्त्वज्ञः कश्चित् संसारेऽस्मिन् न विद्यते । अतएव भवान् कथं वा शिवं सम्यक्तया ज्ञातुं समर्थो भविष्यसि यथा कवेः भाषया -

**अकिञ्चनः सन् प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।**
**स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।।(कुमार.५/७७)**

शिवस्तु विश्वरूपः। विश्वमूर्त्तेः शिवस्य शरीरं अलंकारविमण्डितं भवतु वा सर्पवेष्टितं भवतु गजचर्मावृतं भवतु वा पट्टवस्त्रपरिशोभितं भवतु , अथवा नरकपालशोभितं भवतु अथवा हरिचन्दनविमण्डितं भवतु तत्तु केनापि कदापि न अवधार्यते यथा कवेः भाषया-

**विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा।**
**कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूत्तेरवधार्यते वपुः।।(कुमार.५/७८)।**

पुनश्च तत्रैव कविना वर्णितं यत् शिवस्य अङ्गस्पर्शं प्राप्य श्मशानस्य चिताभस्मरजः पवित्रं भवति। यतो हि यदा शिवः ताण्डवनृत्यं करोति, तदा तस्य शरीरात् चिताभस्मरजः स्खलितं भवति । तस्मिन् समये देवगणः तत् पवित्रमिति मत्वा स्वमस्तकोपरि धारयति , अतः ज्ञायते यत् मङ्गलमयस्य शिवस्य संस्पर्शात् अपवित्रमपि चिताभस्मरजः पवित्रं भवति। अतः एव शिवः स्वयं पवित्रोऽपि सर्वान् पवित्रयति । यथोक्तं कविना-

**तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये ।**
**तथा हि नृत्याऽभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम्।।(कुमार ५/७९)**

किञ्च देवराजः इन्द्रः मदोन्मत्तैः ऐरावतवाहनारूढः अपि दरिद्रस्य वृषभारूढस्य शिवस्य दर्शनं प्राप्य गजराजपृष्ठात् अवरूह्य ,तस्य शिवस्य चरणौ किरीटिना मस्तकेन प्रणमति। अनेन शिवस्य पादयोः अङ्गुल्यः इन्द्रस्य मस्तकभूषणस्य प्रस्फुटितस्य मन्दारपुष्पस्य परागरेणुभिः अतितरां रक्तवर्णाः भवन्ति। एतत्तु शिवस्य माहात्म्यम्। कविना उक्तं यथा-

**असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।**
**करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दारजोऽरुणाङ्दगुलीः ।।(कुमार५/८०)**

अभिज्ञानशाकुन्तलस्य मङ्गलाचरणे अपि कालिदासेन शिवस्य महत्त्वं प्रतिपादितम्। कविकुलमौलिः विश्ववन्द्यः कालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तलनाटके तस्य आराध्यदेवस्य शिवस्य व्यापकतासम्बन्धे स्पष्टचित्रं प्रददाति

। शिव: सृष्टे: प्रारम्भे सर्वादौ जलमसृजत्। अत: शिव: जलरूपेण प्रकाशितो भवति । तस्य प्रमाणं मनुस्मृतौ लभ्यते यत् -“**आप एव ससर्जादौ तासु वीर्य्यमवासृजत्** ” शतपथब्राह्मणे कथ्यते यत् आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तथा य: आहुतिं प्रदायमानं घृतादिं द्रव्यं देवानां समीपं नयति स एव अग्निरूपधारी शिव: भवति।यज्ञसमये यजमानरूपेण य: यज्ञं सम्पादयति स एव यजमानरूपधारी शिव एव भवति। य: दिवसे रात्रौ च सूर्यचन्द्ररूपेण गमनागमनं करोति, स एव शिव: भवति। य: अकाशरूपेण शब्दधारणं कृत्वा सर्वं व्याप्नोति स एव शिव: भवति । य: सर्वेषां बीजानां मूलकारणमिति स्वीकृतं भवति अर्थात् पृथ्वीरूपेण अन्नप्रभृतीनुत्पादयति स एव शिवस्वरूप: भवति। य: सर्वेषाप्राणीनां प्राणान् धारयति स: वायुरूपधारी शिव: एव भवति। अर्थात् शिव एव जल-अग्नि-यज्ञकर्त्तृ-सूर्य-चन्द्र-आकाश-पृथ्वी-वायुप्रभृतिभि: आख्याभि: अष्टमूर्त्तिभि:विद्यमान: इति स्वीकार: क्रियते। यथा-

**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री**
**ये द्वे कालं विधत्त: श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।**
**यामाहु: सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन: प्राणवन्त:**
**प्रत्यक्षाभि: प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश: ।।(अभिज्ञा-१/१)**

एतदतिरिच्य काश्मीरशैवमतमपि दृश्यते । काश्मीरदेशत: प्रसृतम् इदं शैवमतम् । अत: मतस्यास्य काश्मीरशैवमतम् इति नाम वर्तते । काश्मीरशैवमतस्य प्रत्यभिज्ञादर्शनम् इति नामान्तरम् अस्ति । काश्मीरशैवदर्शनस्य मूलाधार: शैवागम: तन्त्रशास्त्रं वा भवति। वसुगुप्तस्य शिवसूत्रं काश्मीरशैवमतस्य मूलम् इति दार्शनिका: कथयन्ति। काश्मीरशैवमतस्य आद्य: आचार्य: वसुगुप्त: भवति। इदं शिवतत्त्वम् आचार्यस्य वसुगुप्तस्य स्वप्ने लब्धम् आसीत्। वसुगुप्तस्य “स्पन्दकारिका” सोमानन्दाचार्यस्य “शिवसृष्टि” उत्पलदेवस्य प्रत्यभिज्ञाकारिका , अभिनवगुप्तस्य प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, परमार्थसार: , तन्त्रालोक:, क्षेमराजस्य शिवशक्ति-विमर्शिनी, स्पन्दसन्दोहादय: ग्रन्था: काश्मीरशैवमतस्य महत्त्वपूर्णा: ग्रन्था: भवन्ति। एतस्मिन् मते शिव: स्वयं प्रकाशरूप: शक्तिश्च विश्वरूपा भवति। चैतन्यस्वरूपं परमतत्त्वं युगपत् शिवशक्तिरूपं , ज्ञानक्रियारूपं प्रकाशविमर्शरूपं च भवति। शाक्तिं विना शिव: शव एव भवति । अत: एतस्मिन् सन्दर्भे इदम् उक्तम् -

**शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुम् ।**
**न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि ।। (सौन्दर्यलहरी -४)**

आचार्यकुन्तकेन स्वग्रन्थस्य वक्रोक्तिजीवितस्य कारिकाणां वृत्तिलिखनसमये प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसारम् आदौ निर्विघ्नेन ग्रन्थपरिसमाप्त्यर्थं स्वस्य अभिष्टदेवस्य परमशिवतत्त्वस्य वन्दना क्रियते । यथा–

**जगत्त्रितयवैचित्र्य चित्रकर्मविधायिनम्।**
**शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुम: ।। (वक्रोक्ति.१/१)**

अर्थात् त्रिभुवनाद्भुतरचना -चित्रकृत्यकर्मणां शक्तानां चिदानन्द-इच्छाज्ञानक्रियाणां परिस्फुरणमात्रम् उपकरणम् अर्थात् साधानारूपं परमशिवतत्त्वं प्रणमामः । अनेन प्रकारेण ग्रन्थेषु वहुषु स्थानेषु शैवतत्त्वं दृश्यते।

**-सन्दर्भा-**


१. रघुबंशम्, २. कुमारसम्भवम्, ५.सौन्दर्यलहरी,

३. मनुस्मृति, ४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६. वक्रोक्तिजीवितम्।



साहित्याध्यापकः

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्

श्री सदाशिव परिसरः , पुरी,

ओडिशा


**प्रमुखतत्त्वानि- भाषा, संस्कृतभाषा, संस्कृतसाहित्यम् ,अभिव्यक्तिः, शैवसंप्रदाय, शैवतत्त्वम्। संस्कृतसाहित्ये विभिन्नानि तत्त्वानि सन्ति। तेषु शैवतत्त्वं अन्यतमम्। सैवतत्त्वे शिवः परमं तत्त्वं भवति। एतस्मिन् अष्टौ गुणाः सन्ति। आत्मसत्ता, शुद्धता, स्वानुभूतिः, अनन्तज्ञानम्, निरतिशयं स्वतन्त्र्यम्, अनन्तप्रेम, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तानन्दादयः इति। शिवशक्त्योः समन्वय एव शैवतत्त्वस्य विशेषो भवति। जगत् जीवःच शिवस्य स्वरूपं भवति। सृष्टिः शिवस्य लीलामात्रं भव ति। शिव सदा स्वतन्त्रः। स्वस्य विविधरूपेण अभिव्यक्तिकरणं स्वातन्त्र्यपदस्यार्थः अस्ति। शिवः-सृष्टिः स्थिति-लय-निग्रह-अनुग्रह-कर्त्ता भवति। शैवतत्त्वे शक्तिविशिष्टस्य जीवस्य शक्तिविशिष्टेन सह महेश्वरेण सह अभेदान्वयः शक्तिविशिष्टाद्वैतम् इतिकथ्यते। परशिवःसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टो भवति जीवः स्थूलचिदचिद्विशिष्टो भवति। शिवस्य शक्त्या सह अभेदसम्बन्धः एत्नमते अङ्गीकृतः। परमशिवगता सूक्ष्मचिद्शक्तिः सर्वज्ञरूपा भवति, अचित्शक्तिः च सर्वकतृत्वरूपा भवति।चित्शक्त्या सर्वज्ञत्वम्, अचित्शक्त्या च सर्वकर्तृत्वम् परमशिवस्य इति भावः। विशेषतः शैवतत्त्वं कुमारसम्भवे, रघुवंशे, अभिज्ञानशाकुन्तले , वक्रोक्तिजीविते च परिदृश्यते।**

# भ्रमवादस्य दार्शनिकपर्यालोचनम्

DR. NITAI PAL
ASSISTANT PROFESSOR
NABADWIP VIDYASAGAR COLLEGE
NABADWIP, NADIA, 741302
DEPARTMENT OF SANSKRIT
UNIVERSITY OF KALYANI
Email: nitaipalrkmv5@gmail.com
MB. 9064492980

**निबन्धनिर्यासः** यस्मिन् यो धर्मः नास्ति तत्र तद्धर्मस्य कल्पनम् आरोपशब्देन कथ्यते। आरोपमाश्रित्य दर्शनशास्त्रे वहवः भ्रमवादाः दृश्यन्ते। यथा अन्यथाख्यातिः, अख्यातिः, विपरीतख्यातिः, अख्यातिश्चेति। अध्यासस्य पर्यालोचनेन भ्रमवादस्य पर्यालोचनं कृयते।

प्रथमस्य अध्यासस्य ज्ञनाध्यासः इति द्वितीयस्य च अर्थाध्यासः इति अभिधानम्। सदानन्दयोगीन्द्रप्रणीते वेदान्तसरे प्रतिपादितमध्यासलक्षणम् – "वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः" इति। [i] अधासस्य उदाहरणमुक्तं तेन "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत्" इति। वस्तुनि कस्मिंश्चित् पदार्थे अवस्तुनः तद्भिन्नस्य अपरस्य पदार्थस्य आरोपः अवभासः एव अध्यारोपः। शङ्कराचार्येण अध्यासस्य लक्षणं विहितम् – "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाभासः" इति। [ii] स्मर्यते इति स्मृतिः, तस्य रूपमिव रूपमस्य इति स्मृतिरूपः। स्मर्यमाणसदृश इति तदर्थः। स्मृतिरूपत्वमित्यस्य असन्निहितविषयत्वं वा अर्थः। [iii] परशब्दात् सप्तम्यर्थे त्रल्प्रत्यये परत्रेति। परस्मिन् स्वभिन्नेति इत्यर्थः। पूर्वदृष्टस्य संस्कारकारणाद् अवभासो ज्ञानं पूर्वदृष्टावभासः। शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानमध्यासस्य उदाहरणम्। तथाहि आपणे पूर्वं दृष्टस्य रजतस्य रजतत्ववति प्रतीतिः स्मृति। तथहि प्रकाशकारणात् चाकचिक्ययुक्तात् शुक्तिमालोक्य काचकामलादिदोषदुष्टेन्द्रियवतः पुरुषस्य स्मर्यमाणापणदृष्टरजतसदृशस्य रजतस्य रजतत्वाभाववत्यां शुक्तौ योऽवभासः सोऽध्यासः इति। अत्र प्रातिभासिकरजतस्य स्मर्यमाणेन आपणे पूर्वदृष्टरजतेन सह सादृश्यमस्ति। अध्यासकारणरूपेण प्रमातृदोषः प्रमाणदोषः प्रमेयदोषः इति दोषत्रैविध्यमङ्गीक्रियते।

शङ्करभगवत्पादैः ब्रह्मसूत्रभाष्ये इतराचार्याणामपि अध्यासविषये मतं सङ्गृहीतम्। आत्मखातिवादिमतम्, अन्यथाख्यातिवादिष्वेकदेशिनां मतं चोच्यते आचार्येण – "तं केचिदन्यत्र अन्यधर्माध्यास इति वदन्ति" इति। अन्यथाख्यातिवादिनः अन्यत्र रजतभिन्नशुक्त्यादौ अन्यधर्मस्य रजतावयवधर्मस्य देशान्तरस्थरजतादेः वा अध्यासः इति अङ्गीकुर्वन्ति। आत्म्यख्यातिवादिमत बाह्यं वस्तु न किन्तु अविद्यावासनारोपतमलीकम्। एवम् अन्यत्र बाह्ये अलीके शुक्त्यादौ अन्यधर्मस्य विज्ञानधर्मस्य आन्तरस्य रजतस्य अध्यासः बहिर्वदवभासः इति। अख्यातिवादिनां मीमांसकानां मते सर्वमेव ज्ञानं यथार्थम्। वाचस्पतिमिश्रेण मीमांसकमतख्यापनकाले उच्यते "यथर्थाः सर्वे विप्रतिपन्नाः दन्देहविभ्रमाः, प्रत्ययत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्" इति। तेषां मते "यत्र यदध्यासः तद्विवेचकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः" एवाध्यासपदवाच्य इति। यत्र शुक्त्यादौ यस्य रजतादेरध्यासः तयोः शुक्तिरजतयोः तज्ज्ञानयश्च भेदाग्रहे सति तत्कारणभूतो भ्रम एवाध्यासः। इदं रजतमिति विशिष्टव्यवहार इति तेषां मतम्। असत्ख्यातिवादिनः अन्यथाख्यातिवादिनश्च "यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते" इत्यामनन्ति। शून्यवादिमते यत्र शुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासः तस्य विपरीतधर्मत्वकल्पनाम्,

रजतादेरत्यन्तासतः कल्पनामाचक्षते। अन्यथाख्यातिमते अस्य लक्षणस्य योजनं तावत् यत्र शुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासः तस्यैव शुक्तिकादेः विपरीतधर्मत्वकल्पनां रजतत्वधर्मकल्पनाम् आचक्षते। अतः अध्यासस्य लक्षणं संगृह्योच्यते अतस्मिंस्तद्बुद्धिः” इति।

शब्दसंकेतः शून्यवादः, अख्यातिवादः, विपरीतख्यातिवादः, विज्ञानवादः, अन्यथाख्यातिवादः

भारतीयदर्शनशास्त्रमास्तिकनास्तिकभेदेन द्वैविध्यं भजते। तेषु नास्तिकदर्शनेषु बौद्धदर्शनमन्यतमं पदमलङ्करोति। अस्य दर्शनस्य प्रधानानि दार्शनिकतत्त्वानि यथा प्रतीत्यसमुत्पादतत्त्वम्, कर्मवादतत्त्वम्, क्षणिकत्ववादतत्त्वम्, नैरात्म्यवादतत्त्वम्, प्रमाणतत्त्वञ्च। एतेषु तत्त्वेषु कस्मिंश्चित् तत्त्वे आरोपतत्त्वं वर्तते। बौद्धसम्प्रदायाः वस्तुस्वतन्त्रवादिपक्षे सौतान्त्रिकवैभाषिकभेदेन द्वैविध्यं भजते। अन्यत्र भाववादिपक्षे माध्यमिकयोगाचारभेदेन द्वैविध्यं भजते। माध्यमिकबौद्धदार्शनिकैः शून्यात्मवादः स्वीक्रियते। तेषां नये सर्वं शून्यं शून्यमिति। अत्र शून्यशब्देन जगत्संसारस्य शून्यत्वमुपपद्यते। शून्यमिति शब्दस्याभिधानिकार्थस्तावत् पूर्णतया बाह्यजगतः अस्तित्वं न स्वीकरणीयमिति। माध्यमिकबौद्धदार्शनिकानां नये शून्यशब्दस्यार्थः वर्णनातीत इति। बौद्धदार्शनिकेन नागार्जुनेन परमतत्त्वमनिर्वचनीयमिति स्वीकृतम्। जगति सर्वे पदार्थाः प्रतीत्यसमुत्पन्नरूपेण दृश्यन्ते। अतः जगति सर्वे पदार्थाः पराश्रयरूपेण सत्ताशून्यरूपेण च समुपलभ्यन्ते। अतः शून्यमेव जगतः तत्त्वमिति स्वीकरणीयम्। शून्यवादिनां नये जगति विभिन्नाः पदार्थाः न सत्यत्वेन उपलब्धा भवन्ति, यतः सत्यार्थः निरपेक्ष इति। अन्यत्र जगति विभिन्नाः पदार्थाः न असत्यत्वेन बोधा भवन्ति, यतः सर्वेषां पदार्थानां प्रत्यक्षं न सम्भवति। यदसत्यं तदाकाशकुसुमवत् कदापि न प्रत्यक्षयोग्यमिति। जगति पदार्थाः सत्यरूपेण असत्यरूपेण च वर्तन्ते इत्येवं यदि भवेत् तर्हि अत्र स्वविरोधित्वमुपपद्यते। अन्यत्र यदि पदार्थः यथा सत्यरूपेण न वर्तते, तथापि असत्यरूपेणापि न वर्तते यदि इत्येवं भवेत् तर्हि आत्मविरिधिदोषः समुपजायते। अतः वस्तुनः स्वरूपं शून्यमिति स्वीकरणीयम्। यत् तत्त्वं तत् न सत्, न असत्, न सदसत्, सदसद्विलक्षणमिति समुपपद्यते। अतः बौधदार्शनिकेन शून्यस्य लक्षणमुत्थापितम् – “चर्तुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्यमेव।” इति। [iv] बौद्धदार्शनिकेन नागार्जुनेन अस्ति-नास्ति, नित्यानित्यम्, आत्मानात्मा इत्येषां वाक्यानां सत्यत्वं नाङ्गीकृतम्। एतेषु तत्त्वेषु अस्ति इति स्वीकारे वस्तुनः शाश्वतसत्त्वा स्वीकार्या। नास्ति इति सिद्धान्ते वस्तुनः अस्तित्वं निराकरणीयम्। शून्यवादस्य प्रधानवक्तव्यमस्ति वस्तुनः अस्तित्वमन्तरविरोधयुक्तमापेक्षिकञ्चेति मन्यते। अतः जागतिकवस्तु अवभासरूपेण दृश्यते। स्वप्नस्य विषयः यथैव संवृत्तिः वा अविद्यामूलककल्पनामात्रं भवति, तथैव जाग्रतदशायाः दृष्टविषयः अपि अविद्यामूलकरूपेण ग्रहणीयः। यद्यपि शून्यवादिभिः दार्शनिकैः दृश्यमानो जागतिकविषयः स्वप्नावस्थया सह तुलनात्मकरूपेण विचार्यते, तथापि अनेन विचारेण जागतिकपदार्थानामस्तित्वे संशयः अविश्वासः वा न उत्पद्यते। परिदृश्यमानस्य वस्तुनः वर्णनं केनापि कोटिना न प्रकाश्यते। सर्वदर्शनसंग्रहे अपि माधवाचार्येण उच्यते –

**“परिव्राट् कामुक-शूनामेकस्यां प्रमदातनौ।**

**कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः॥” इति।** [v]

शून्यवादः परमतत्त्वस्य स्वतन्त्रजगत् न स्वीक्रियते। अवभासे एव परमतत्वमङ्गीभूतमिति कथ्यते। अवभासस्य पृथक्तया सत्ता नास्ति। परमतत्त्वमेव अवभासितं भवति। अत्र स्वलक्षणे सामान्यलक्षणस्यारोपः समुपपद्यते। अतः तेषां नये आत्मनः ज्ञानविशिष्टत्वम्, ज्ञानस्वरूपत्वञ्च नास्ति। ज्ञानं ज्ञेयश्च अविद्याकल्पितरूपेण दृश्यते। पदार्थः निःस्वभावरूपेण अनिर्वचनीयरूपेण च दृश्यते। तेषां नये दृष्टपदार्थस्य स्वप्नव्यवहारवत् सङ्गच्छते। वेदान्तसारेऽपि सदान्दयोगिन्द्रसरस्वतीपादैः दृश्यते “सुषुप्तौ सर्वाभावात् “अहं सुषुप्तौ नासम्, इति उत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभावात् च शून्यमात्मा इति वदति।” [vi] स्वप्नस्य विषयः यथा अविद्यामूलकरूपेण उल्लिख्यते,

तथैव दृष्टविषयस्य कल्पना अविद्याप्रसूता भवति। अतः जगतः सत्यता नास्ति। सर्वं शून्यरूपेण समुपलभ्यते। यथैव बीजस्य ध्वंसेन अङ्कुरस्योत्पत्तिर्जायते तथैव अभावात् जगतः उत्पत्तिर्जायते।

**॥अख्यातिवादः॥**

भारतीयास्तिकदर्शनेषु मीमांसादर्शनमन्यतमम्। जैमिनिना मीमांसादर्शनं प्रवर्तितम्। मीमांसा वेदान्तश्चेति समानतन्त्रदर्शनरूपेण समुपलभ्यते। मीमांसादर्शनं वेदार्थस्य विचारं करोति। श्रुतिशास्त्रे विचारपूर्वकं तत्त्वावधारणाय मीमांसा इति शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। येन विचारप्रकारेण सूक्ष्मतमस्यार्थस्य निर्णयः भवति, तदेव मीमांसादर्शनमिति कथ्यते। भामतीटीकाकर्तुः वाचस्पतिमिश्रस्य मते – "पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता" [vii] इति। अत्रापि मीमांसादर्शनस्य अख्यातिवादे आरोपतत्त्वं समुपपादितम्। भ्रमविषये भारतीयदार्शनिकानां मतवादः ख्यातिवादशब्देन उच्यते। मीमांसकाः भ्रमो न अप्रमा इति गदन्ति। मीमांसकदार्शनिकेषु प्रभाकरेण मन्यते भ्रमज्ञानं नास्ति। ज्ञानमात्रमेव यथार्थरूपेण लक्ष्यते। ज्ञानमात्रमेव प्रमा तथा अव्यभिचारी भवति इति प्रभाकराणां मतम्। भारतीयदर्शनेषु प्रभाकरसम्प्रदायं विना इतरे सम्प्रदायाः विपर्ययस्तथा भ्रमज्ञानं अप्रमा इत्येवं वदन्ति। ते दार्शनिकाः प्रमाज्ञानमप्रमाज्ञानञ्च यथा स्वीकुर्वन्ति तथैव पात्रविशेषे ज्ञानं प्रमाप्रमा च भवति इत्यपि वदन्ति। किन्तु अप्रमाज्ञानं नास्ति इत्येवं कोऽपि न वदति। वस्तुतः ते अप्रमाज्ञानस्य विषयः सत् असत् सदसत् वा भवति इति विषये विचारयन्ति। प्रभाकरदार्शनिकानां नये ज्ञानं सदैव सविषयात्मकं भवति। ज्ञानं कदापि न विषयं विना तिष्ठति। तेषां नये ज्ञानं सदैव प्रकाशात्मकं भवति। प्रकाशात्मकं ज्ञानं न केवलं विषयस्य प्रकाशं करोति, अपि तु यथा स्वयमेव स्वप्रकाशकं भवति तथा स्वाश्रयमात्मानं प्रकाशयति, ज्ञानस्य प्रामाण्यमपि प्रकाशयति। अतः ज्ञाने यत् प्रतिभासितं भवति तदवश्यमेव प्रमा भवति। "प्रकरणपञ्चिका" इति ग्रन्थे शालिकनाथमिश्रेण उच्यते – ज्ञानं यद्ययथार्थं भवति तर्हि सवेषां ज्ञानानां प्रामाण्ये संशय उपपद्यते। अतः स्वाभाविकभ्रमस्य स्वरूपं किमिति जिज्ञासायामुच्यते प्रभाकरेण भिन्नज्ञानद्वयोः भेदकज्ञानस्य अभावः अख्यातिः वा भ्रमः। प्रभाकरदार्शनिकाः भ्रमविषये अख्यातिः इत्यस्य प्रयोगं कुर्वन्ति। अतः भारतीयदर्शनशास्त्रे मतवादोऽयमख्यातिवादत्वेन परिगण्यते। तेषां नये भ्रमः न विशिष्टज्ञानं भवति। भ्रमे सदैव ज्ञानद्वयं वर्तते। तयोः ज्ञानयोः विषयोऽपि भिन्नो भिन्नो भवति। एकस्मिन् वस्तुनि अवभासितस्यापरवस्तुधर्मस्यारोपः यथैव न सम्भवति तथैव एकस्मिन् वस्तुनि अपरवस्तुनः अवभासोऽपि न सम्भवति। शुक्तिः कदापि रजतरूपेण न प्रतिभासते। यतः रजतरूपे शुक्तिपदार्थस्य सत्ता आकाशकुसुमवदसत् भवति। यः पदार्थः येन रूपेण असत् भवति, सः पदार्थः कदापि तेन रूपेण प्रतितेः विषयः न भवति। अतः शुक्तौ यदा रजतस्य ज्ञानं भवति तदा रजतस्य एव प्रतिभासो भवति। अतः ज्ञानमिदं यथार्थरूपेण समुपपद्यते। यतः ज्ञानं कदापि विषयस्य व्यभिचारि न भवति ततः शुक्तौ रजतस्य ज्ञानमपि न अयथार्थम्। अतः प्रश्नः समुदितः शुक्तौ रजतज्ञानं कथं भ्रमज्ञानरूपेण विवेचितम्? प्रभाकरस्योत्तरं तावत् - शुक्तौ रजतज्ञानम्, रज्जुपदार्थे सर्पज्ञानञ्चेत्यादिषु यथार्थज्ञानद्वयस्य भेदः कदापि न ग्राह्यः, तथाहि एतादृश्यं ज्ञानं भ्रमज्ञानरूपेण विवेचितम्। शुक्तिमवलम्ब्य यदा "इदं रजतम्" इत्याकारकं ज्ञानं भवति तत्र न ज्ञानमेकं वर्तते, तत्र तु ज्ञानद्वयं वर्तते इति मन्यते प्रभाकरेण। अत्र यथैव इदं पदवाच्यं शुक्तेः प्रत्यक्षज्ञानं वर्तते तथैव रजतविषयकं स्मृतिज्ञानमपि वर्तते। अत्र ज्ञानद्वयमेकज्ञानरूपेण समुपलभ्यते। अत्र कारणद्वयमुपपद्यते यथा ज्ञानद्वयस्योत्पत्तौ व्यवधानं यथा न वर्तते तथा दोषतः ज्ञानद्वयस्य भेदः अपि नास्ति। इदमिति पदवाच्या या शुक्तिः, तया सह इन्द्रियस्य संयोगतः इदमिति विशेषणभूतस्य शुक्तिपदार्थस्य प्रत्यक्षं भवति। दोषतः शुक्तिविशिष्टरूपेण शुक्तेः ज्ञानं न भवति। किन्तु रजतस्य दृश्यमानैः शुक्लत्वादिधर्मैः सह रजतधर्मस्य स्थिते सादृश्ये पूर्वानुभूतरजतः पूर्वानुभूतरजतस्मृतिश्च इत्यनयोः ज्ञानद्वयोः उत्पत्तौ व्यवधानं न वर्तते। अतो यथा ज्ञानद्वयस्य भेदो नानुभूयते तथैव अनयोः ज्ञानयोः विषयगतभेदोऽपि न अनुभूयते। ततः ज्ञाता रजतं प्राप्तुं गच्छति। अत्र दर्शनीयं यत्, भ्रमे यत् ज्ञानद्वयं वर्तते तत्र ज्ञानद्वयं समजातीयं भिन्नजातीयं वा भवेत्।

यथा रक्तिमपुष्पस्य निकटे यदि शुभ्रस्फटिकः वर्तते तर्हि शुभ्रस्फटिकः रक्तिमरूपेण अवभासते। अत्र रक्तिमवर्णः स्फटिकश्च प्रत्यक्षज्ञानरूपेण समुपद्यते। अत्र रक्तिमपुष्पस्य रक्तिमत्वं स्फटिके आरोपितम्। [viii]

**॥विपरीतख्यातिवादः॥**

भाट्टमीमांसकानां भ्रमसम्बन्धीयमतवादो विपरीतख्यातिवादत्वेन भारतीयदर्शने समुपलभ्यते। सर्वेषां ज्ञानानां प्रमात्वं न स्वीकर्तव्यमिति कुमारिलभट्टस्य मतम्। तेषां नये यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमात्वं स्वीक्रियते तर्हि अनुभवस्यापलाप उपपद्यते। भ्रमज्ञानं पृथक् ज्ञानद्वयरूपेण न प्राप्यते। भाट्टनये भ्रमज्ञानमेकमेव विशिष्टज्ञानम्। अस्य विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यं यद्धर्मविशिष्टं भवति, तद्धर्मप्रकारकरूपेण यदि तस्य पदार्थस्य ज्ञानं न भवति किन्तु विपरीतधर्मरूपेण ज्ञानं भवति तर्हि तत्र विपरीतख्यातिवादस्य प्रसङ्गः जायते। यथा रज्जुपदार्थः रज्जुत्वधर्मविशिष्टो भवति। सर्पपदार्थः सर्पत्वधर्मविशिष्टो भवति। रज्जुपदार्थे सर्पभ्रमे रज्जुत्वावच्छिन्नरज्जुरूपेण ज्ञानं न भवति किन्तु रज्जुत्वविपरीतप्रकारकरूपेण सर्पत्वरूपेण ज्ञानं भवति। कुमारिलभट्टस्यायं मतवादः विपरीतख्यातिवादः। अनेन मतवादेन सह नैयायिकमतवादस्य सादृश्यं वर्तते। अस्मिन् नये यदा रज्जुपदार्थे "अयं सर्पः" इत्येवं ज्ञानं भवति तदा इन्द्रियेन सह रज्जुपदार्थस्य स्थिते सम्बन्धे रज्जुविषयस्य सामान्यज्ञानमुपजायते। किन्तु रज्जुत्वविशिष्टरूपेण तस्य ज्ञानं न भवति। वस्तुतः विशिष्टज्ञानस्यापेक्षा सदैव वर्तते। अस्यां दशायां सर्पेण सह रज्जुपदार्थस्य सादृश्यतः सर्पस्य स्मृतिः जायते। ततः रज्जुपदार्थे सर्पत्व योगाचारबौद्धा आत्मख्यातिवादस्य पृष्ठपोषका इति दृश्यन्ते। तेषु बौद्धदार्शनिकसम्प्रदायेषु सौतान्त्रिकः वैभाषिकश्च आत्मख्यातिवादं समर्थयतः। तेषां नये स्वलक्षणवस्तुना सह इन्द्रियस्य जाते सन्निकर्षे इन्द्रिये विषयस्य या उपस्थितिः जायते तदेव प्रत्यक्ष्यम्। तेषां नये प्रत्यक्ष्यज्ञानमभ्रान्तं भवति। विज्ञानवादिनो बौद्धाः विज्ञानस्य विभागद्वयं स्वीकुर्वन्ति यथा आलयविज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानञ्चेति। विज्ञानद्वयं क्षणिकरूपेण समुपपद्यते। आलयविज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानञ्च प्रथमक्षणे उत्पद्येते ततः द्वितीयक्षणे विनश्येते। योगाचारबौद्धानां नये उत्पत्तिक्षणं स्थितिक्षणमित्युच्यते। अहमाकारविज्ञानं यदा विनश्यति तदा तत्सदृशमपरविज्ञानं जायते। समानमेव प्रकारेण घटाकारविज्ञानमपि प्रथमतया उत्पपद्यते ततः क्षणान्तरे विनश्यति। अनेन प्रकारेण यदालयविज्ञानस्य धारा प्रवहति तदेव लोके आत्मनः स्थितिः स्वीक्रियते। समानमेव प्रकारेण घटाकारप्रवृत्तिविज्ञानस्य प्रवाहः अपि प्रवहति तेन घटस्य स्थायित्वं समुपलभ्यते। अत्र ज्ञानस्य प्रवाहः यद्यपि भिन्नभिन्नः भवति तथापि प्रवाहोऽयं एकत्वेन प्रतिपद्यते। अत्र ज्ञानस्य यः स्वाकारो वर्तते स तद्रूपेण न स्फुरितः किन्तु पररूपेण ज्ञानस्य या प्रतीतिः जायते तदेव भ्रान्तिज्ञानमिति भवति। योगाचाराणां नये यतः स्वाकारविज्ञानस्य बाह्यधर्मविशिष्टरूपेण प्रतीतिः जायते अतः मतमिदमात्मख्यातिनाम्नाभिधीयते। विज्ञानवादिबौद्धानां नये भ्रान्तज्ञानस्य विषयः अवस्तु। अत्र शुक्तौ "इदं रजतम्" इत्येवं प्रतीतिः यथैव भ्रमः तथैव शुक्तौ "इयं शुक्तिका" इत्येवं प्रतिपत्तिरपि भ्रमात्मिका। "इयं शुक्तिका" इत्यस्मिन् स्थाने शुक्तिकाया आन्तरविज्ञानस्य आन्तरधर्मे बाह्यतारूपस्य इदन्तस्यारोपः उपपद्यते।

**॥अन्यथाख्यातिवादः॥**

तिशब्दस्यार्थो भ्रमज्ञानमिति दृश्यते। उद्योतकरेणापि ख्यातिशब्दस्यार्थः ज्ञानमिति निर्णीतम्। अनुमितिदिधितिकारेणाप्यसत्ख्यातिशब्दस्यार्थव्याख्यया उच्यते "ख्यातिज्ञानम्" इति। योगदर्शनेऽपि "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम्" (१।२।६) [ix] इति सूत्रं पतञ्जलिना सूत्रितम्। इत्यस्मिन् सूत्रेऽपि ख्यातिशब्दस्यार्थः ज्ञानं प्रतिपादितम्। एकस्य वस्तुनो भिन्नरूपेण प्रतीतिरेवान्यथाख्यातिः इति। अन्यथाख्यातिवादिनां न्यायवैशेषिकानां नये शुक्तिपदार्थे रजतज्ञानकाले शुक्तिरजतौ सद्रूपेण विद्येते। तत्र शुक्तिः यद्यपि सद्रूपेण विद्यते तथापि रजतः अन्यत्र विद्यते। तेषां नये "इदं रजतम्" इत्येवं यत् ज्ञानं जायते तद्विशिष्टज्ञानरूपेण समुपलभ्यते। विशिष्टज्ञानतः भ्रान्तज्ञातुः रजतस्य ग्रहणे प्रवृत्तिः जायते। ज्ञानमिदं विशेष्यविशेषण-सम्बन्धावच्छिन्नविशिष्टज्ञानम्। अत्र

शुक्तिः विशेष्यरूपेण, रजतः तु विशेषणरूपेण प्रतिपद्यते। वस्तुत एतेषां सम्बन्धः नास्ति। एतेषां सम्बन्ध आरोपितः। अनेनारोपितसम्बन्धेन "इदं रजतम्" इत्येवं रजतत्वविशिष्टस्य शुक्तिपदार्थस्य ज्ञानं भवति। भ्रान्तज्ञानमिदं प्रत्यक्षात्मकमिति मन्यते। ज्ञानमिदं लौकिकसन्निकर्षेण न सम्भवति। किन्त्वलौकिकप्रत्यक्षेण सम्भवति। भ्रमज्ञाने शुक्तिपदार्थः शुक्तित्वरूपेण न प्रतिभासते। अतो भ्रमज्ञानमिदमन्यथाख्यातिरिति नाम्नाभिधीयते। अलौकिक-प्रत्यक्षमाध्यमेण सादृश्यादिज्ञानतः प्रथमतया पूर्वानुभूतस्य रजतस्य स्मरणात्मकं ज्ञानं जायते। अलौकिकसन्निकर्षः अत्र ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः इति नाम्नाभिधीयते। अत्र अतीते लब्धस्य रजतस्य ज्ञानेन रजतस्मृतिना च रजतस्य प्रत्यक्षं सम्भवति। इयं स्मृतिः ज्ञानलक्षणालौलिकसन्निकर्षसम्भूता। अनेन सन्निकर्षेण देशान्तरीयरजतेन सह सन्निकर्षः जायते। ततः रजतं सन्निकृष्टस्य पदार्थस्य विशेषणरूपेण समुपलभ्यते। तेन "इदं रजतम्" इत्येवं भ्रमज्ञानं जायते। अत्र प्रत्यक्षभूतं रजतं न मिथ्या भवति। अन्यत्रस्थितस्य रजतत्वस्य बोधः अत्र जायते इति अन्यथाख्यातिवादः। अन्यत्र शुक्तिकादौ अन्यधर्मस्य अवभास एव अध्यासः। अन्यथाख्यातिवादिनस्तु बाह्यशुक्तादौ बुद्धिरूपात्मनो धर्मस्य रजतस्य अध्यासः, आन्तरस्य रजतस्य बाह्यावभासः जायते। रज्जुपदार्थे यदा सर्पभ्रमः जायते, तदा रज्जुपदार्थेन सह सम्बन्धयुक्तस्य दोषविशिष्टस्य चक्षुरिन्द्रियस्य सन्निकर्षः जायते, तत नेत्रदोषप्रभावतः बल्मीकादौ स्थितस्य सर्पस्य प्रतीतिर्जायते। अनेन दूरवर्तिस्थाने स्थितस्य सर्पस्य सन्निकृष्टे ख्यातिर्जायते। अर्थात् दूरवर्तिवस्तुनः निकटवर्तित्वरूपेणान्यधर्मसंयोगेन यद्बोधः जायते अत्र धर्मधर्मिनोः अंशविशेषे सर्पस्य ज्ञानं यथार्थम्। किन्तु देशांशे तस्य ज्ञानं मिथ्या भवतीत्यन्यथाख्यातिवाद इति प्राचीननैयायिकानां मतम्। नवीननैयायिकानां नये अन्यथाखातिवादः तु "इदम्" इत्याकरकं सामान्यज्ञानम्। रज्जुपदार्थे सर्पभ्रमकाले प्रथमतः "इदम्" इत्याकारकेण रज्जुसामान्यस्य ज्ञानं जायते, किन्तु इन्द्रियदोषतः रज्जुत्वावच्छिन्नरज्जुरूपेण ज्ञानं न जायते। इदमित्याकारकं सामान्यज्ञानान्तरं विशेषज्ञानस्याकाङ्क्षा जायते। ततः रज्ज्वा सह सर्पस्य सादृश्यमुपपन्नम्। रज्जुसर्पयोः तत्सादृश्यज्ञानमुद्बोधकरूपेण बल्मीकादौ पूर्वानुभूतस्य सर्पसंस्कारस्योद्बोधकं भवति। ततः पूर्वानुभूतस्य सत्यसर्पस्य स्मृतिर्जायते। स्मृतिज्ञानमिदं सन्निकर्षरूपेण बल्मीकादौ स्थितस्य सत्यसर्पस्य प्रत्यक्षज्ञानमुत्पादयति। सन्निकर्षोऽयं न्यायवौशेषिकदर्शने ज्ञानलक्षणसन्निकर्षः नाम्नाभिधीयते। अन्येषां नैयायिकानां नये ख्यातिवादस्य मतवैभिन्नमस्ति। रज्जुपदार्थेन सह चक्षुरिन्द्रियस्य सन्निकर्षः जायते। ततः तत्र सर्पभ्रमे विलम्बनं न जायते। अक्ष्णा सह रज्जुपदार्थस्य सम्बन्धः, सर्पभ्रमस्योत्पादिका स्मृतिः, ज्ञानलक्षणसन्निकर्षश्च इत्येषां व्यवधानं न स्वीकृतम्। संस्कारोद्बोकारिवस्तुनोः धर्मः पूर्ववर्तिनि पदार्थे प्रतिभासते। रज्जुसर्पयोः सादृश्यज्ञानेन पूर्वदृष्टस्य सर्पस्य संस्कारविशेषस्य यदा उद्बोधको भवति तत इदमित्याकारेण प्रतिभातरज्जुपदार्थे सर्पत्वं प्रतिपादितम्। अन्यथाख्यातेः स्थलवैभिन्नमस्ति यत्र ज्ञानलक्षणसन्निकर्षादीनां प्रयोजनं नास्ति। अधिष्ठानारोप्यपदार्थयोः चक्षुसन्निकर्षे स्थितेऽपि एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य भ्रमज्ञानं जायते। विशेषाज्ञानसहकृतसादृश्य-ज्ञानमेवान्यथाख्यातेः कारणम्। अन्यत्रान्यपदार्थस्य प्रतीतिरित्यन्यथाख्यातिवादः। बौद्धदर्शनेऽप्यन्यथाख्यातेः मतमस्ति - "अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः" [x] इति। न्याय-वैशेषिकानां नयेऽन्यथाख्यातिवादे आरोपो दृश्यते। एकस्मिन् पदार्थेऽपरपदार्थस्य कल्पना आरोपः, अन्यत्र वाधिष्ठानभूतपदार्थे आरोप्यपदार्थस्य आरोपो दृश्यते।

॥तथ्यसूत्राणि॥

[i] वे. सा

[ii] वे. द.

iii “असन्निहितविषयत्वं वा स्मृतिरूपत्वम्” भामती

iv तदेव.

v तदेव,

vi वे. सा. पृष्ठम् - १८१

vii ब्र. सू. भामती. पृ. ४३

viii IJHSSS JOURNAL, VOL. III, ISSUE-VI, MAY 2017.

ix स्वामिभर्गानन्दसम्पादिते, पातञ्जलयोगदर्शने, २५ तमे पृष्ठे।

x स्वामिचिद्घनानन्दः, वेदान्तवागीशश्रीआनन्दझा च अनयोः सम्पादिते, वेदान्तदर्शने, ३६ तमे पृष्ठे।

## ॥अनुशीलितग्रन्थसूची ॥


- तर्कवागीश, फणिभूषण. न्यायदर्शन (प्रथम खण्ड), कलकाता, पश्चिमबङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, चतुर्थ प्रकाश – जानुयारी २०११.
- भर्गानन्द, स्वामी. पातञ्जल योगदर्शन, कलकाता, उद्बोधन कार्यालय, तृतीय पुनर्मुद्रण – मार्च २०१६.
- चट्टोपाध्याय, श्री भूतनाथ. मीमांसा-दर्शन (प्रथम खण्ड), कलकाता, संस्कृत वुक डिपो, प्रथम प्रकाश – मार्च २०१७.
- चट्टोपाध्याय, श्री भूतनाथ. मीमांसा-दर्शन (प्रथम खण्ड), कलकाता, संस्कृत वुक डिपो, प्रथम प्रकाश चक्रवर्ती, सत्यज्योति. सर्वदर्शनसंग्रह (प्रथमखण्ड), कलकाता, साहित्यश्री, तृतीय मुद्रण – वैशाख १४१४ (बङ्गाब्दे).
- चक्रवर्ती, सत्यज्योति. सर्वदर्शनसंग्रह (द्वितीयखण्ड), कलकाता, साहित्यश्री, तृतीय मुद्रण – वैशाख १४१४ (बङ्गाब्दे).
- चक्रवर्ती, सत्यनाराण. साहित्यदर्पण (प्रथम द्वितीय परिच्छेद), कलकाता, संस्कृत पुस्तक भाण्डार, पुनर्मुद्रण – २०१६.
- झा, श्री आनन्द. पुरी, चिद्घनानन्द. वेदान्त दर्शन (प्रथम अध्याय), कलकाता, उद्बोधन कार्यालय, एकादश पुनर्मुद्रण – मार्च २०१६.
- तर्कवागीश, फणिभूषण. न्यायदर्शन (प्रथम खण्ड), कलकाता, पश्चिमबङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, चतुर्थ प्रकाश – जानुयारी २०११.
- तर्कवागीश, फणिभूषण. न्यायदर्शन (द्वितीय खण्ड), कलकाता, पश्चिमबङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, प्रथम प्रकाश – जुन १९८४.

- त्रिपाठी, दीननाथ. तत्त्वचिन्तामणि, कोलकाता, संस्कृत वुक डिपो, पुनर्मुद्रण – १४१७ (बङ्गाब्दे).
- भट्टाचार्य, अमित. भारतीयदर्शनेर रूपरेखा, कलिकाता, संस्कृत वुक डिपो, तृतीय संस्करण – जुन २०१९.


***********

# SEXUALITY IN *THE GOD OF SMALL THINGS*: A FOUCAULDIAN READING

**Dr. Partha Sarathi Guha**
**Assistant Professor**
**Department of English**
**Berhampore Girls' College**
**Berhampore, Murshidabad, West Bengal**
**Email id:** parthasarathi.english@berhamporegirlscollege.ac.in

**Abstract:** The paper is an attempt to read Arundhati Roy's *The God of Small Things* (1997) from the perspective of Michel Foucault's notion of sexuality in his book *The Will to Knowledge*: *The History of Sexuality*, Volume One (1978). Foucault's notion of the deployment of sexuality and the deployment of alliance helps one to understand the power structures operating in the novel amongst its characters. This power structure operating both inside the family and in the outside world, read in the novel, reveals the way the dynamics of power acts by inscribing the rule.

**Keywords:** Power, Sexuality, Alliance, Law, Bourgeoisie.

**Introduction:** Towards the beginning of *The God of Small Things*, Rahel thinks about the banana jam that used to be made in their grandmother's pickle factory, "the FPO (Food Products Organization) banned… because according to their specifications it was neither jam nor jelly" (Roy 30). This trope is then applied to the "love laws" which are defined by Arundhati Roy as: "the laws that lay down who should be loved and how. And how much. The laws that make grandmothers grandmothers, uncles uncles, mothers mothers, cousins cousins, jam jam, and jelly jelly" (Roy 31).

**The two apparatuses:** In a sense, the "love laws" are what Michel Foucault talks about in his book *The Will to Knowledge*: *The History of Sexuality*,Volume One (1978). In this book, Foucault speaks of the two apparatuses that the "relations of sex gave rise, [to] in every society" (Foucault 106). The first of these apparatuses Foucault defines as "a system of marriage, of fixation and development of kinship ties, of transmission of names and possessions" (106). But apart from this "deployment of alliance", Foucault also indicates the "deployment of sexuality" which, he elaborates, is a perception of sexuality "concerned with the sensations of the body, the quality of pleasures, and the nature of impressions" (106). The family, Foucault goes on to stress is "a social, economic, and political structure of alliance that excludes or at least restrains sexuality,… preserving only its useful functions" (108). It will be the argument of this paper that *The God of Small Things* may be profitably read in the light of Foucault's theory of sexuality.

**The deployment of alliance:** The family is one of the most important sites of implication in Arundhati Roy's novel. In its pages we are introduced to the large extended family of the twins Rahel and Estha comprising of their grandfather, grandmother, uncle and his wife and child, an unmarried aunt, and their mother. At the core of this family's structure lies what Foucault calls "the deployment of alliance", that is a "system of marriage, of fixation and development of kinship ties, of transmission of names and possessions" (Foucault 106). We are given a graphic illustration of this last attribute in Foucault's list in Chapter 7 of the novel in which Rahel comes across a tattered exercise book that had once belonged to her six years old twin brother Estha:

> On the front of the book, Estha had rubbed out his surname with spit, and taken half the paper with it. Over the whole mess, he had written in pencil *Un-Known*. Esthappen Un-Known. (His surname postponed for the Time Being, while Ammu chose between her husband's name and her father's). (Roy 156-157)

This indeterminacy about surname has a economic equivalence in that the twin's mother Ammu had no "Locusts Stand I" in the family, for being a married daughter, she had no right to her parental property. We are given an insight into the precariousness of Ammu's position in Ayemenem House by the reflections of Ammu's aunt Baby Kochamma:

> She [Baby Kochamma] subscribed wholeheartedly to the commonly held view that a married daughter had no position in her parents' home. As for a *divorced* daughter – according to Baby Kochamma, she had no position anywhere at all. And as for a *divorced* daughter from a *love* marriage, well, words could not describe Baby Kochamma's outrage. As for a *divorced* daughter from a *intercommunity love* marriage – Baby Kochamma choe to remain quiveringly silent on the subject. (Roy 45-46)

**The deployment of sexuality:** The second type of sexuality defined by Foucault, the "deployment of sexuality" is manifested in *The God of Small Things* in terms of Ammu's relationship with the untouchable Paravan, Velutha. Arundhati Roy makes it clear in the description of the love-making of the two that the relationship of Ammu and Velutha is overwhelmingly sexual. The whole sensual description in the novel is woven out of words like "Feral", "lambent", "shivering", "aching desire", "skin to skin", "nut-brown breasts", "smooth ebony chest", "tongue", "tasted", "kiss", "touched", "haunches", "hips", "rhythm", "pleasure", "fever pitch", "naked", "crouched", "nipples", "sipped", "navel", "heat", "mouth", "deeper", "slick", "drank", "muscles", "goose-bumps", "warm bodies", "body" (Roy 331-339). But significantly enough, it is the imagining of the sex-act by Ammu's mother, which comes out as more vivid:

> She thought of her [daughter] naked, coupling in the mud with a man who was nothing but a filthy *coolie*. She imagined it in vivid detail: a Paravan's coarse black hand on her daughter's breast. His mouth on hers. His black hips jerking between her parted legs. The sound of their breathing. His

> particular Paravan smell. *Like animals*, Mammachi thought and nearly vomited. *Like a dog with a bitch on heat.* (Roy 257-258)

**The power:** Transferred to the context of the IPE family, these apparatuses of the "deployment of alliance" contribute to the production of a sexuality that, as Foucault says, makes "it possible for the systems of alliance to be imbued with a new tactic of power," (Foucault 108) a power, that can do nothing but say no to sex and pleasure. Foucault observes: "what [power] produces, if anything, is absences and gaps; it overlooks elements, introduces discontinuities, separates what is joined, and marks off boundaries. Its effects take the general form of limit and lack". Foucault further says that power is

> essentially what dictates its law to sex. Which means first of all that sex is placed by power in a binary system: licit and illicit, permitted and forbidden. Secondly, power prescribes an 'order' for sex that operates at the same time as a form of intelligibility: sex is to be deciphered on the basis of its relation to the law. And finally, power acts by laying down the rule. (Foucault 83)

*The God of Small Things* embodies this truth both inside the family circle at Ayemenem House as well as outside it in the Ayemenem society through the actions of the Police Inspector, Comrade K.N.M. Pillai, and Vellya Paapen, Velutha's old father. It is the last of these three who displays his wish to wield power in the most unambiguous fashion. Outraged both morally as well as socially by the knowledge that his son had slept with a woman belonging to a high caste, the drunken old father lies in wait for his son to return to their hut so that he can cut him down with a sharp axe. Equally unambiguous about his power to condemn and control the social norms outraged by Ammu's act is the Police Inspector. When Ammu goes to the police station (to lodge a complaint) after Velutha has been arrested by the police, the inspector speaks:

> the coarse Kottayam dialect of Malayalam. He stared at Ammu's breasts as he spoke. He said the police knew all they needed to know and that the Kottayam Police didn't take statements from *veshyas* or their illegitimate children…
>
> 'If I were you', he said, 'I'd go home quietly.' Then he tapped her breasts with his baton. Gently. *Tap, tap.* As though he was choosing mangoes from a basket. (Roy 8)

**Physical sensation:** Within the family circle of Mammachi, the deployments of sexuality and alliance are shown through the reactions and responses of Baby Kochamma and Mammachi to Ammu's sexual indiscretion. As has already been pointed out, the construction of sexuality in terms of the norms of deployment is through the regarding of sex as a physical sensation. This lies at the heart of Baby Kochamma's comment: "*How could she stand the smell? Haven't you noticed, they have a particular smell, these Paravans?*" (Roy 78)

**Deployment of sexuality and systems of alliance:** In the novel, however, the typifying features of the deployment of sexuality are made continuous with features typical of systems of alliance-family prestige in the case of Mammachi, and the desire to throw Ammu and her children out of Ayemenem House on the part of Baby Kochamma. The aunt in fact quite insidiously stokes Mammachi's anger against Velutha and channelizes Chacko's grief into willing him to get rid of Ammu and Estha. This is made clear in Chapter 19 of the novel in which we are told:

> Baby Kochamma knew she had to get Ammu out of Ayemenem as soon as possible.
>
> She managed that by doing what she was best at. Irrigating her fields, nourishing her crops with other people's passions.
>
> She gnawed like a rat into the godown of Chacko's grief. Within its walls she planted an easy, accessible target for his insane anger. It wasn't hard for her to portray Ammu as the person actually responsible for Sophie Mol's death. Ammu and her two-egg twins.
>
> Chacko breaking down doors was only the sad bull thrashing at the end of Baby Kochamma's leash. It was *her* idea that Ammu be made to pack her bags and leave. That Estha be Returned. (Roy 321-322)

**Sexuality and power:** Foucault's point about the coming together of sexuality and power is also clearly manifested through the individual characters in *The God of Small Things*. In the case of Pappachi, this man's violence towards his wife may be explained in terms of the wide age gap of seventeen years that separates him and his wife. Having become an old man when his wife is still young, he tries to retain his power by beating her. Before visitors, however, he puts on a show of sewing buttons on his own clothes to indicate how neglected a husband he is. The sexuality and power interrelationship is also manifested, though in a somewhat different way, in Mammachi. After she becomes the owner of the Pickle factory in her own right, she shows her gratitude to her son Chacko for having saved her from the beatings of her husband by rationalizing his sexual liaisons with the female workers in the Pickle factory as his "Man's Needs". However, consistent with Foucault's argument that the modern "control" of sexuality in "bourgeoisie culture" was less a weapon for use against the "lower class" than an instrument of "bourgeoisie self-idealization", Mammachi cannot tolerate her daughter's sexual relationship with Velutha (Foucault 125-126). In fact, it is exactly this that Arundhati Roy reflectsupon in her novel when she writes "Her [Mammachi's] tolerance of 'Men's Needs' as far as her son was concerned, became the fuel for her unmanageable fury at her daughter" (Roy 258). But it is in the drastic action of the policeman who beat Velutha to death that the centrality of sexuality and power is most clearly manifested. As a recent commentator on Foucault's theory notes:

> The bourgeoisie built a code of sex for its own self assertion. It erected the heterosexual monogamous couple into the standard of morality

> and pillar of society. Every other form of sex came to be regarded as contrary to nature and dangerous to society. (Merquior 123)

This is exactly what Arundhati Roy underscores in the pages of her text. The policemen, she writes,

> were only history's henchmen. Sent to square the books and collect the dues from those who broke its laws. Impelled by feelings that were primal yet paradoxically wholly impersonal. Feelings of contempt born of inchoate, unacknowledged fear – civilization's fear of nature, men's fear of women, power's fear of powerlessness.
>
> Man's subliminal urge to destroy what he could neither subdue nor deify. Men's Needs.
>
> What Esthappen and Rahel witnessed that morning, though they didn't know it then, was a clinical demonstration in controlled conditions (this was not war after all, or genocide) of human nature's pursuit of ascendancy. Structure. Order. Complete monopoly. It was human history, masquerading as God's Purpose. (Roy 308-309)

**Conclusion:** Structure, order, and complete monopoly are what Ammu and Velutha had sought to transgress. Both had been angry young people motivated by a sense of deep dissatisfaction about the Love Laws which inscribed borders between who should love whom and how much. They are caught in their transgressive act and punished for their violation, but Ammu's children begin to live again by the even more transgressive act of incest. According to Foucault, "in societies where the mechanism of alliance predominate, prohibition of incest is a functionally indispensable rule" (109). Rahel and Estha rediscover in their mutual bonding the oneness they had once possessed as unborn twin embryos in their mother's womb. As Estha rediscovers his mother's self in his sister's body, Rahel actualizes the truth that she had once whispered in her mother's ear: "*We be of one blood, ye and I*" (Roy 329).

Books Consulted and Works Cited

Foucault, Michel. *The Will to Knowledge*: *The History of Sexuality*. Translated by Robert Hurley, vol. 1, Penguin Books, 1998.

Merquior, J.G. *Foucault*. Fontana, 1991.

Roy, Arundhati. *The God of Small Things*. IndiaInk, 1997.

# विशिष्टाद्वैतवेदान्ते मनः

**डॉ. प्रदीपकुमारसाहुः,**
**सहायकाचार्यः (सं.), सर्वदर्शनविभागः**
**केंद्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,**
**श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी**

वेदव्यासेन लिखितानां ब्रह्मसूत्राणां अनेकैराचार्यैः भाष्यानि विरचितानि । तेष्वन्यतमं श्रीमद्रामानुजाचार्यैर्विलिखितं भाष्यं श्रीभाष्यनाम्ना व्यवह्रियते। ब्रह्मसूत्राणि, उपनिषदः, भगवद्गीता इति प्रस्थानत्रयस्य भाष्याणि श्रीमद्रामानुजाचार्या व्यलिखन्। एतेषामाचार्याणाम्मतं विशिष्टाद्वैतमित्युच्यते। सकलकल्याणगुणविशिष्टेन ब्रह्मणा जीवस्य ऐक्यमत्र वर्णितमिति विशिष्टाद्वैतशब्दोऽस्य मतस्य सिद्धो भवति । श्रीमद्रामानुजाचार्याः स्वीयस्य भाष्यस्यातिविपुलत्वात् तदर्थ संक्षेपेण वेदान्तसार, वेदान्तदीपादीन् ग्रन्थान् व्यरचयन् । वेदान्तदेशिकनाम्ना विख्याताः श्रीमद्वेङ्कटनाथदेशिकाचार्या अपि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तं समर्थयितुं तत्त्वमुक्ताकलापः, शतदूषण्यादीन् अनेकान् ग्रन्थानकुर्वन्।

ब्रह्मणो निर्गुणत्वं, जगतोमिथ्यात्वं च वदद्भिरद्वैतिभिः विशिष्टाद्वैतिनो विभेदमधिगच्छन्ति । मनसस्तत्त्वविषये नाऽधिकाभिप्रायभेद उभयेषां दृश्यते। अद्वैतिनो मनसः अन्नमयत्वमङ्गीकृत्य भौतिकत्वं वदन्ति । विशिष्टाद्वैतिनस्तावत् तन्निरस्याहङ्कारिकत्वमेव मनसोऽङ्गीकुर्वन्ति । एवञ्च अद्वैत विशिष्टाद्वैतयोः मनोविचार: प्रायशस्समानो भवतीत्यत्र तत्स्वरूपविमर्शः सङ्गहेण क्रियते । मनसः उत्पत्तिः सुखाद्युपलब्ध्या स्मृत्या च मनसोऽस्तित्वमनुमानेन साधयन्ति विशिष्टाद्वैतिनोऽपि । यथोक्तमस्ति आनन्ददायिनी व्याख्यायां - "सुखाद्यपलब्धिः स्मृतिश्च मनोऽनुमाने पक्षः।" [1] । जीववदिन्द्रियाणामप्युत्पत्तिर्नास्तीति न वक्तव्यम्। मनसः उत्पत्तिः श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वादिति "तथा प्राणाः"[2] । इत्यस्य ब्रह्मसूत्रस्य भाष्ये श्रीमद्रामानुजाचार्यैः कथितम् । "एतस्माजायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुतिस्तत्र प्रमाणं भवतीति प्रदर्शितम् । प्रसङ्गेऽस्मिन् उक्तमस्ति श्रीभाष्ये यत् - "न चात्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रियोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः आत्मवदुत्पत्तिप्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वश्रुतीनां चादर्शनात्" [3] इति वदन्तः श्रीमद्रामानुजाचार्याः मनसः उत्पत्तिप्रतिषेधश्रुतयो न सन्तीति तस्योत्पत्तिं निर्धारितवन्तः।

श्रीमद्रामानुजमतप्रकाशनपरे यतीन्द्रमतदीपिकाग्रन्थे इन्द्रियाणामुत्पत्ति प्रकारस्सम्यक् निरूपितोऽस्ति। गुणाश्रयभूतानि द्रव्याणि षट् - प्रकृति - काल - शुद्धसत्त्वधर्म - भूतज्ञान - जीव - ईश्वरभेदात् । तेषु प्रकृतिः कालश्च जडद्रव्ये भवतः । प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमोरूप गुणत्रयाश्रयरूपा। सैव प्रकृतिः नित्या सती अविद्यामायादिशब्दवाच्या च। तस्याः प्रकृतेः भगवत्सङ्कल्पाधीनागुणवैषम्यात् कार्योन्मुखावस्था अव्यक्तशब्देनोच्यते। तस्मादव्यक्तात् महानुत्पद्यते । सोऽपि सात्त्विक राजस तामसभेदात् त्रिधाऽवस्थितः । तस्मान्महतः अहङ्कारस्योत्पत्तिः । सोऽपि सात्त्विकराजसतामस भेदात् त्रिविधस्सन् सात्त्विकाहङ्कार, राजसाहङ्कार तामसाहङ्कार इति व्यवह्रियते । एतेषां त्रयाणां वैकारिकस्तेजसो भूतादिः इति नामान्तराण्यपि सम्भवन्ति । तेषु वैकारिक इति सुप्रसिद्धात् तैजससंज्ञक

[1] आनन्ददायिनीव्याख्या, पृ.सं. - 179

[2] ब्रह्मसूत्राणि, 2-4-1 पृ.सं. 252

[3] श्रीभाष्यम्, 2-4-1 पृ.सं. 253

राजसाहङ्कारसहकृतात्सात्त्विकाहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्ते"[1] इति यतीन्द्रमतदीपिकायां इन्द्रियोत्पत्तिर्विवृता। एवञ्च मनसोऽहङ्कारजन्यत्वं विशिष्टाद्वैतिनामभिमतमिति ज्ञायते। उत्पत्तिमत्वान्मनसोऽनित्यत्वं सिद्धयति।

**मनसो भौतिकत्वनिरासः :-**

"अन्नमयं हि सोम्यमनः आपोमयः प्राणः" इत्यादिश्रुत्यनुसारं केचन मनसः भौतिकत्वं साधयन्ति। विशिष्टाद्वैतिनस्तावत् भौतिकत्वं मनसो निराकुर्वन्ति । "मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च"[2] इति सूत्रस्य भाष्ये श्रीमद्रामानुजाचार्याः प्रथमं मनस पृथिवीविकारत्वं वदन्ति। "अन्नमशितं त्रेधा विभज्यते" इति श्रुतिप्रमाणानुसारं भुक्तस्यान्नस्य योऽणीयान् भागस्स एव मनोरूपेण परिणमते इति ज्ञायते। एवञ्चान्नमयत्वान्मनसः भौमत्वं सिद्धयति इत्युक्त्वा अत्रान्नमयत्वं नाम तदाप्यायनमात्रमेव, न तत् प्रकृतित्वम् मनसोऽहङ्कारादुत्पद्यमानत्वात् इति वाक्येन भौतिकत्वं मनसो निराचक्रुः । यथोक्तमस्ति श्रीभाष्य - अन्नमयं हि सोम्यमन आपोमयः प्राण इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भ्यश्चाप्यायनमुच्यते न तत् प्रकृतित्वं, आहङ्कारिकत्वान्मनसः।[3] एवं श्रीवेङ्कटनाथदेशिका अपि स्वीय तत्त्वमुक्तकलापे मनसो भौतिकत्व निरसनपूर्वकमाहङ्कारिकत्वमुपपादयामासुः ।

**नेत्रादेर्दीपिकादेरिव नियमयुतं तैजसत्वादिसाध्ये**
**रूपादिग्राहकत्वं यदि करणतया स्यादसाधारणत्वम् ।**
**तत्साहाय्यं त्वसिद्धं भवति गमकतामात्रमय्यञ्जनादा**
**वक्षाहङ्कारिकत्वं श्रुतिपथनिपुणैर्घोषितं नैव बाध्यम् ।।**

इत्यस्मिन् श्लोके, अनुमानप्रमाणेनेन्द्रियाणां भौतिकत्वं वदतां तार्कि काणामभिप्रायस्तिरस्कृतः इन्द्रियाणां भौतिकत्वे श्रुतिप्रमाणानि न दृश्यन्ते । तेषामाहङ्कारिकत्वमेव मनुपाराशर्यादिभिः प्रदर्शितम् । वर्णितमस्ति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे - श्रुतिपथनिपुणैः मनुपराशरपाराशर्यादिभिः । बहुषु प्रदेशेषु स्पष्टोक्तं नैव बाध्यम अशक्तैरनुमानैः अन्यपरैश्च वाक्यैः । [4] तच्चानुमानैर्बाधितुमशक्यमिति श्रीवेङ्कटनाथदेशिकानामाशयः।

**"भूतैराप्यायितत्वात् क्वचिदुपिचरिता भौतिकत्वोक्तिरेषां**
**अन्नाप्तेजोमयत्वं श्रुतिरपि हि मनः प्राणवाचामुवाच ।।"**

इत्यस्मिन् श्लोके - अन्नमयं हि सोम्य मनः इत्यादीनां श्रुतीनामौपचारिकत्वात् मनसो भौतिकत्वं नास्तीति श्रीवेङ्कटनाथदेशिकैस्स्पष्टमुक्तम्। तत्त्वमुक्ताकलापस्य व्याख्याकाराः श्रीदेवनाथताताचार्याः एषामिन्द्रियाणां भूतैराप्यायितत्वात् भारतादिषु भौतिकत्वोक्तिरौपचारिकीत्यर्थः । आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्बलीयस्त्वादिति भावः। मन आदौ पार्थिवत्वादेः केनाप्यनभ्युपगमादिति भावः[5] इति वचनैः श्रीवेङ्कटनाथदेशिकेन्द्राणामभिप्रायमनूदितवन्तः । एवञ्च सांख्यमतानुसारं मनसोऽहङ्कारोत्पन्नत्वमेव विशिष्टाद्वैतिनामभिमतमित्यवगम्यते । अत एव "सात्त्विकाहङ्कारो-

---

[1] यतीन्द्रमतदीपिका, चतुर्थोऽवतारः, पृ.सं. 16
[2] ब्रह्मसूत्रम् - 2-4-18
[3] श्रीभाष्यम् - 4-2-3 पृ.सं. 337
[4] सर्वार्थसिद्धिः - 34 पृ.सं. 171
[5] तत्त्वमुक्ताकलापः, 35 पृ.सं. 174

त्पन्नत्वमेकादशानामप्यनुगतं लक्षणमिति भावः [1] इति देवनाथाचार्या आहुः ।

**मनसः अन्त:करणत्वम् :-**

"सप्तगतेर्विशेषितत्त्वाच्च"[2] इति सूत्रस्य भाष्ये श्रीमद्रामानुजाचार्येणोक्तं यत् - एवं जीवेन सह जन्ममरणयोस्तप्तानामेव गतिश्रवणात्, योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणबुद्धिमनांसि सप्तैवेति गम्यते[3] । अर्थात् जन्मसमये जीवेन सह आगमनं, मरणकाले जीवेन सह गमनं चेन्द्रियाणामस्ति । अत्र प्रमाणं तु श्रुतिः- "सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणागुहाशयानिहितास्सप्तसप्तेति" श्रुतौ सप्तानामेवेन्द्रियाणां जीवेन सह जन्ममरणयोर्गतिः श्रुयते । एवं गति श्रवणात्, योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणाबुद्धिमनांसि सप्तैव जीवस्य कारणानीति गम्यते [4] । अतः एतेषां मुख्यतया प्राणशब्देन व्यवहारः । श्रोत्रादिभ्यस्सप्तभ्यः इतराणि वाकपाणिपादपायूपस्थाहङ्कारचित्तानि इन्द्रियाणि जीवेन सह जन्ममरणयोर्गतिश्रवणाभावात्, जीवस्याल्पाल्पोपकारकत्वाच्च औपचारिकतया प्राणव्यपदेशं प्राप्नुवन्ति इति । वर्णितमस्ति श्रीभाष्ये यत् - चतुर्दशपर्यन्तानि प्राणप्रतिपादकवाक्येषु वाक्पाणिपादपायूपस्थाहङ्कार चित्तानीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते। तेषां जीवेन सह गतिश्रवणा भावाज्जीवस्याल्पोपकारकत्वमात्रेणौचारिकः प्राणव्यपदेशः।[5]

अत्र मुख्यप्राणेषु बुद्धिमनसोः पृथक् पृथगिन्द्रियत्वं निर्दिष्टम्, तथा अमुख्यप्राणेषु चित्ताहङ्कारयोश्च पृथगिन्द्रियत्वम्। एवञ्च सम्मिल्य चतुर्दशेन्द्रियाणि भवन्ति । परन्तु "हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्"[6] इति सूत्रस्य भाष्ये पूर्वोक्तं इन्द्रियचतुर्दशत्वं निराकुर्वन् श्रीमद्रामानुजाचार्याः। इन्द्रियाणि एकादश भवन्ति । श्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि आदानादिः कार्यभेदोऽस्तीति तान्यपि जीवस्योपकरणानि सन्त्येव । यथोक्तमम् श्रीमद्रामानुजाचार्येण श्रीभाष्ये - "दृश्यते हि श्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि कार्यभेद आदनादिः अतस्तेऽपि सन्त्येव" [7] । परन्तु मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराणीति चत्वारि पृथगिन्द्रियाणि न भवन्ति। एकमेव मनः अध्यवसायाभिमानचिन्ता वृत्तिभेदेन बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यते । यथोक्तमस्ति श्रीभाष्ये - अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत इत्येकादशेन्द्रियाणि [8] । अतः वृत्तिभेदेन भिन्नमेकमेवमनः इन्द्रियं भवति। "दशमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश"- तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश एकादश मनश्चात्र" इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि इन्द्रियाणामेकादशत्वं स्थापयन्ति। दशमे पुरुषे, प्राणाः इत्यादौ श्रुतिवचने आत्मशब्देन मन एवोच्यते । उक्तमस्ति श्रीभाष्ये यत् - आत्मैकादश इति आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते [9]। इन्द्रियाणामेकादशाधिकसंख्यावादाः केवलं

---

[1] अक्षरार्थव्याख्या, 35 पृ.सं. 181

[2] ब्रह्मसूत्रम् - 2-4-4

[3] श्रीभाष्यम् - 2-4-4, पृ.सं. 253

[4] श्रीभाष्यम् - 2-4-4 पृ.सं. 253

[5] श्रीभाष्यम् - 2-4-4 पृ.सं. 253

[6] ब्रह्मसूत्रम् - 2-4-5 पृ.सं. 254

[7] श्रीभाष्यम् - 2-4-5 पृ.सं. 254

[8] श्रीभाष्यम् - 2-4-5 पृ.सं. 254

[9] श्रीभाष्यम् - 2-4-5 पृ.सं. 254

मनोवृत्ति भेदाभिप्रायाः[1] इति इन्द्रियाणां एकदशसंख्याकत्वं, बुद्धिचित्ताहङ्काराणां मनोवृत्तिभेदत्वमात्रं च श्रीमद्रामानुजाचार्याः निर्दिदिशुः । प्रसङ्गेऽस्मिन् तत्त्वमुक्ताकलापे श्रीवेङ्कटनाथदेशिकेनोक्तम् यत् -

**सांख्यैस्त्रेधोक्तमन्तः करणमिह मनोबुद्धि अहङ्कारभेदात्**
**चित्तं चान्ये चतुर्थं विदुरुभयमसत्तादृश श्रुत्यभावात् ।**
**तत्तत्तत्त्वोक्तिमात्रं नहि करणभिदामाहक्लृप्तिस्तु गुर्वी**
**बुद्ध्याद्याख्या निरूढा क्वचिदिह मनसो वृत्तिवैचित्र्य योगात् ।।**[2]

इत्यस्मिन् श्लोके मनसः अन्तःकरणवाच्यत्वम्, तस्यचैकत्वं प्रति- पादयामासुः। अस्मिन् संदर्भे सांख्यानामद्वैतिनाञ्चाभिप्रायौ श्रीवेङ्कटनाथदेशिकै- निरस्तौ। तत्त्वमुक्ताकलापस्य सर्वार्थसिद्धिव्याख्यायां सांख्यमतमेवमनूदितमस्ति[3] सांख्यास्त्वाहुः करणं त्रयोदशविधं "अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् इति[4] । तथा अन्ये तु चित्ताख्यमप्यन्तःकरणमन्यदाहुः- इति वचनेन मायिमतानुयायिनामभिप्रायः प्रकटितः।[5] "सांख्या: मनोबुद्ध्यहङ्कारभेदेनान्तःकरणस्य त्रैविध्यमाहुः। तथा मायिमतानुयायिनश्चित्तस्यापि अन्तः करणत्वं वदन्ति। एतन्मतद्वयमसङ्गतं भवतीति श्रीवेङ्कटनाथदेशिकानामभिप्रायः । तत्र सांख्यमतमेवं तिरस्कृतम् ।

श्रुतिप्रमाणाभावादन्तःकरणत्रैविध्यं न सङ्गच्छते। सुबालोपनिषदि पृथिव्यादि-तत्त्वपङ्क्तौ मनसोऽनन्तरं बुद्ध्यादीनामपि पाठोऽस्तीत्येतावन्मात्रेण तेषामपि करणत्वं सम्भवतीति न वक्तुं शक्यते। तथा मनस्सहपाठमात्रेणैव करणत्वसिद्धौ, तत्राव्याक्तादीनामपि मनस्सहपाठदर्शनात्तेषामपि करणत्वं प्रसज्यते[6]। यथोक्तमस्ति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे - "ननु तान्यपि त्रीणि सुबालोपनिषदि पृथिव्यादितत्त्वपङ्क्तौ मनसोऽनन्तरं पठ्यन्त इत्यत्राह - तत्तदिति । अयं भावः नहि तत्त्वपङ्क्तिपाठमात्रात् मनस्सहपाठमात्राद्वा करणत्वं सिद्ध्येत् तथा सात्यव्यक्तादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। "अतः मनोवृत्ति भेदत्वमेव बुद्ध्यादीनां न तु पृथक्करणत्वम् इति ।

सर्वार्थसिद्धौ पुनरेवं कथितम् - एकस्यैव हि मनसः स्मृत्यनुभवभेदेन वा सङ्कल्पविकल्पभेदेन वा वृत्तिभेदमन्येप्याहुः। श्रूयते च "कामस्सङ्कल्प" इत्यादौ एतत्सर्वं मन एवेति। अत्रायर्धतमित्यादिवत् सामानाधिकरण्यम्। पुरुषधर्मा एव हि वस्तुतः कामादयः अध्यवसायादयश्च। तदिह पुरुषबुद्धिभेट नियतसामग्रीभेदव्यवस्थितं वृत्तिभेदमात्रं न करणभेदकल्पमिति भावः । इति। एवञ्च मायिमातानुयायिनां मतमत्र तिरस्कृतमित्यवगम्यते । "मनश्च मन्तव्यं च नारायणः" "बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायण, "अहङ्कारोऽहङ्कर्तव्यश्च नारायणः" "चित्तं च चेतव्यश्च नारायणः" इत्यादीनि श्रुतिवचनानि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां मध्ये पाठेन श्रोत्रादीनां वागादीनामिव मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानामपि पृथगिन्द्रियत्वं कल्पयन्तीति न मन्तव्यम् । एतादृशीषु श्रुतिषु बुद्ध्यादीनि चित्तान्तानि वचनानि वृत्तिभेदविशिष्टस्य मनस एकस्यैव तत्त्वबोधकानीति बुद्ध्यादीनां पृथगिन्द्रियत्वं न सिद्ध्यति । अत एवोक्तम् श्रीमद्रामानुजाचार्येण - "अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदात् मन एव बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यते' इति सुस्पष्टमुक्तम् । सृष्टिप्रलयप्रकरणेषु श्रुतिवचनेषु कुत्रापि चित्ताख्यस्य

---

1 श्रीभाष्यम् - 2-4-5 पृ.सं. 254

2 तत्त्वमुक्ताकलापः - 37 पृ.सं. 181

3 सर्वार्थसिद्धिः - 37 पृ.सं. 181

3 सांख्यकारिका –

5 आनन्ददायिनीव्याख्या - 37 पृ.सं. 182

6 सर्वार्थसिद्धिः, 37 पृ.सं. 182

तत्त्वान्तरस्य पाठाभावात् तस्य पृथक्करणत्व- मङ्गीकर्तुं न शक्यत [1] इति सर्वार्थसिद्धिव्याख्याकारैः मायिमतानुयायिनां मतं निरस्तम् । एवञ्च मनस एकस्यैवान्तःकरणत्वम्, बुद्ध्यादीनां तु मनोवृत्ति भेदत्वमेव न तु पृथक्करणत्वमिति विशिष्टाद्वैतिनामभिप्रायोऽवगम्यते।

**मनसः परिमाणम् :-**

'अणवश्च" [2] इति ब्रह्मसूत्रस्य भाष्ये मनसः अणुपरिमाणवत्वं श्रीमद्रामानुजाचार्यैर्निर्दिष्टम्। मरणकाले शरीरादुत्क्रमद्भिः प्राणैस्सह गच्छन्तीन्द्रियाणां विभुत्वं न सिद्धयति। एवं उत्क्रमणसमये पार्श्वस्थैर्जनैरनुपलभ्यन्त इति इन्द्रियामणुत्वमेवेति मनसः अणुत्वमङ्गीकरणीयमिति श्रीमद्रामानुजाचार्या अवोचन्। "त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" इत्यादिषु श्रुतिवचनेषु इन्द्रियाणामानन्त्यश्रवणात्तेषां विभुत्वमस्तीति न वाच्यम्। प्राणानामानन्त्यबोधक-श्रुतिस्तु "अथ योहैताननन्तानुपास्त" इत्युपासन श्रवणादुपास्यप्राणविशेषण- भूतकार्यबाहुल्याभिप्राया" [3] इति श्रीमद्रामानुजाचार्याणामुक्त्या मनसोऽणुत्वं तदभीष्टमिति ज्ञायते। यथोक्तम् श्रीमद्रामानुजाचार्येण श्रीभाष्ये - त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता इत्यानन्त्यश्रवणाद्विभुत्वं प्राणानाम् - इति प्राप्तेऽभिधीयते । प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्तीत्युत्क्रान्त्यादि श्रवणात् परिमितत्वे सिद्धेसत्युत्क्रान्तादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः । आनन्त्यश्रुतिस्तु "अथ यो हैताननन्तानुपास्त इत्युपासनश्रवणादुपास्यप्राणविशेषणभूतकार्यबाहुल्याभिप्राया ।" [4] अत्राणुशब्दस्य परिच्छिन्नपरिमाणवत्वमेवार्थः । न तु परमाणु परिमाणवत्त्वम् ।श्रीवेङ्कटनाथदेशिकास्तत्त्वमु-क्ताकलापे एवमाहुः- सूक्ष्माण्येकादशाक्षाण्यपि न यदि कथं देहतो निष्क्रमादिः चित्ताणुत्वे तु सर्वेन्द्रिय समुदयने धीक्रमोऽप्यस्तु मानम्।

**वृत्तयाऽक्ष्यादेर्दवीयः प्रमितिजनकता वृत्तिराप्यायनार्थैः ।**
**भूतैर्जातः प्रसर्पः श्रुतिमितमपि चानन्त्यमेषां स्वकार्यैः।। [5]इति**

विभूनामिन्द्रियाणां शरीरान्निष्क्रमणादिकं न सम्भवतीति तेषां सूक्ष्मत्वमेव। चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः क्रमेण संयुज्य रूपादीनि ज्ञानानि क्रमशोत्पादयतीत्यपि मनसोऽणुत्वं संभवतीति श्रीवेङ्कटनाथदेशिकानामाशयोऽत्र श्लोके ज्ञायते । "मनो विभु सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् ज्ञानासमवायि संयोगाधारत्वात् नित्यत्वे सति द्रव्यानारम्भकद्रव्य-त्वादात्मादिवत्' इति मनोवैभववादिना म्मतमुत्थाप्य दूषयन्ति सर्वार्थसिद्धिव्याख्याकाराः- पूर्वोक्ते मनोवैभवानुमाने ज्ञानासमवायिसंयोगाधारत्वरूपं यल्लिङ्गं मनोविभुत्व साधनार्थमुपन्यस्तम् तन्न समीचीनम् । ज्ञानस्य नित्यत्वात् तदसमवायि संयोगाधारत्वमात्ममनसोर्नसम्भवति । तथा "एतस्माज्जायते प्राणः मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इति श्रुत्या मनसः उत्पत्तिदर्शनात् नित्यत्वमपि तस्य न सिद्धयति । एवं द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वादिति वचनमपि न समीचीनम् । अवयविद्रव्यानारम्भकत्वमेव । तत्तु विभुत्वे एवं संगच्छत इति नास्ति नियमः । अस्माकं मते अणुष्वपि द्रव्या नारम्भकद्रव्यत्वस्याङ्गीकृतत्वात् । यदपि सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवद्विभुत्वमुच्यते, तदपि त्रिगुणद्रव्ये मनसि सत्त्वादिविशेषगुणसद्भावादसङ्गतम् । यथोक्तमस्ति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे – ज्ञानासमवायिसंयोगाधारत्वं चात्ममनसोरसिद्धम्। ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वात्। नित्यत्वेसति द्रव्यानारम्भक द्रव्यदत्वादित्येतच्चोत्पत्ति

[1] सर्वार्थसिद्धिः, 37 पृ.सं. 182
[2] ब्रह्मसूत्रम्, 2-4-6 पृ.सं. 254
[3] ब्रह्मसूत्रम्,, 2-4-7 पृ.सं. 254
[4] श्रीभाष्यम्, 2-4-7
[5] तत्त्वमुक्ताकलापः, 39 पृ.सं. 188

श्रुत्याऽपहतविशेषणम् । द्रव्यानारम्भकत्वञ्च भवतामवयव्यनारम्भकत्वम्, तच्चास्माकमणुष्वपि विद्यते। यदपि सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवदिति असिद्धमिदानीमौपनिषदाना, त्रिगुणद्रव्ये मनसि सत्त्वादिविशेष गुणसम्पत्तेः[1]। एवञ्च मनोवैभवसाधनप्रयासो व्यर्थः । प्रकृत्येकदेशपरिणामित्वान्मनसः अणुत्वमेवेति विभुत्वसाधनान्यनुमानानि बाधितानि भवन्ति । यथोक्तमस्ति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे - प्रकृत्येकादशपरिणतिर्मन इति सिद्धे विभुत्वानुमानानि च बाधितानि [2]। इत्येवं प्रकारेण सर्वार्थसिद्धौ मनसोऽणुपरिमाणवत्त्वं सुष्ठ व्यवस्थापितम् । "चित्ताणुत्वे तु सर्वेन्द्रियसमुदयने धीक्रमोप्यस्तु मानम्" इति श्रीवेङ्कटनाथदेशिकानां वचनेनेदमप्यवगम्यते यत् "युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इति तार्किकाणां मतं परमतमप्रतिषिद्धमिति न्यायेन विशिष्टाद्वैतिनोऽप्यङ्गीकुर्वन्तीति । एतावता मनसोऽणुत्वं विशिष्टाद्वैतिनामभिमतम् इति ज्ञायते ।

**मनसः इन्द्रियत्वम्** –

श्रीनिवासचायः यतीन्द्रमतदीपिकायां "सात्त्विकाहङ्कारोपादानकं द्रव्यं इन्द्रिय"मिति इन्द्रियलक्षणं कथितम्[3]। मनसस्सात्त्विकाहङ्कारजन्यत्वात् इन्द्रियत्वं सिद्धयति। इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मभेदात् द्विविधानि। तत्र मनः ज्ञानेन्द्रियं भवति। ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियमित्युच्यते। चक्षुरादि द्वारा रूपादिज्ञान- प्रसरणशक्तिमत्वात्, सुखादिज्ञानानामुत्पादकत्वात्, स्मृत्यादि जनकत्वाच्च मनसः ज्ञानेन्द्रियत्वं सिद्धयति। एतच्च मनः हृदयप्रदेशे तिष्ठति। अस्यैव बुद्ध्यहङ्कार । चित्तादिशब्दैर्व्यवहारः। मन एव जीवस्य संसाररूपे बन्धे, तद्विनाशरूपे मोक्षे च करणं भवति । उक्तमस्ति यतीन्द्रमतदीपिकायाम् - ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम् । तत् षोढा – मनः-श्रोत्रचक्षुर्घाणरसनात्वग्भेदात् । स्मृत्यादिकरणमिन्द्रियं मनः । तच्च हृदयप्रदेशवर्ति । बुद्ध्यहङ्कारचित्तादिशब्द-वाच्यम् बन्धमोक्षहेतुभूतश्च [4]। अणुपरिमाणवन्त्येतानीन्द्रियाणि परकायप्रवेशसमये, लोकान्तरगमन सन्दर्भेच जीवेन साकं गच्छन्ति। जीवात्मनो मुक्त्यवस्थायां तु अप्राकृतदेशगमनं न सम्भवतीति इन्द्रियाणि यावत्प्रलयं तिष्ठन्तीत्युक्तत्वात् मनसः प्रलयपर्यन्तं स्थितिरवगम्यते । तदा एतानीन्द्रियाणि इन्द्रियहीनैः प्राणिभिः स्वीक्रियन्ते । उक्तमस्ति यतीन्द्रमतदीपिकायाम् - एतानीन्द्रियाण्यणूनि । परकायप्रवेशे लोकान्तरगमनादिषु च जीवेन सह गच्छन्ति । इन्द्रियाणां मुक्तिदशायामप्राकृतदेशगम-नासम्भवादिहैव यावत् प्रलयं स्थितिः। करणविधुरैरन्यैः परिग्रहो वा ।[5] एवं प्रकारेण यतीन्द्रमतदीपिकायां ज्ञानेन्द्रियस्य मनसस्स्वरूपमभिहितम् । इन्द्रियाणि भगवतोऽप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रह-स्यायुधरूपाणि भवन्तीति ।[6] उक्तमस्ति यतीन्द्रमतदीपिकायाम् -

**चेतश्चक्रति चेतनासिरमतिस्तत्संवृतिर्मालिका**
**भूतानि स्वगुणै रहंकृतियुगं शंखेन शाङ्गीयते ।**
**बाणाः खानि दशापि कौस्तुभमणिर्जीवः प्रधानं पुनः**
**श्रीवत्सं कमलायते तवगदामाहुर्महान्तं बुधाः ।। इति ।।**

---

[1] सर्वार्थसिद्धिः, 39 पृ.सं. 188
[2] सर्वार्थसिद्धिः - 39 पृ.सं. 188
[3] यतीन्द्रमतदीपिका, चतुर्थोऽवतारः - पृ.सं. 16
[4] यतीन्द्रमतदीपिका, चतुर्थोऽवतारः - पृ.सं. 16
[5] यतीन्द्रमतदीपिका; चतुर्थोऽवतारः - पृ.सं. 17
[6] यतीन्द्रमतदीपिका, षष्ठीऽवतारः - पृ.सं. 25

अस्मिन् श्लोके मनसः चक्रत्वं कथितम्। अनेन मनसो वेगवत्त्वमनुमीयते । श्रीमद्भिर्वेङ्कटनाथदेशिकैः मनसः इन्द्रियत्वविचारस्सम्यक्कृतः। इन्द्रियाणि द्विधा भवन्ति प्राकृतानि, अप्राकृतानि चेति। शुद्धाशुद्धसत्त्वयोगात् अयं भेदः आयाति। सात्त्विकाहङ्कारोपादानकमिन्द्रियम्' इति यदिन्द्रियलक्षणं तदप्राकृतेष्विन्द्रियेषु अव्याप्तं भवतीति कारणादयुक्तम् । अत्र प्राकृतेन्द्रियलक्षणं "शब्दतन्मात्रसहभावत्वसात्विकाहङ्कारोपादान द्रव्यत्वादिति'' इति श्रीवेङ्कटनाथ-देशिकै निर्दिष्टम् । ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियमिति मनसः ज्ञानेन्द्रियत्वम्। सांख्यास्तु मनसः ''बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानि। वाक् पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियं ह्याहुः।।" उभयात्मकमत्र मनः'' इति ज्ञानकर्मोभयात्मकत्वं वदन्ति। तन्न समीचीनम् । मनः ज्ञानद्वारैव कर्महेतुर्भवतीति तस्य ज्ञानेन्द्रियत्वमेव न तु कर्मेन्द्रियत्वम् । कर्महेतुत्वमात्रादेव कर्मेन्द्रियत्वमङ्गी- क्रियते चेत्, चक्षुरादीनामपि कर्मेन्द्रियत्वप्रसङ्गः । कुत्रचित् मनः कर्मेन्द्रियत्वेन व्यवहियते तदौपचारिकत्वेनैव, न तु मुख्यतः। कर्मशब्दः शुभाशुभसङ्कल्परूपे ज्ञानेऽपि प्रयुज्यत इति' । यथोक्तमस्ति न्यायसिद्धाञ्जने - उभयात्मकमत्रमन इति तदसत्, तस्य च ज्ञानद्वारैव कर्महेतुत्वात् । तावता च तथात्वे चक्षुरादावपि प्रसङ्गात्। क्वचित् कर्मेन्द्रियव्य-वहारस्तु औपचारिकः। मानस वाचिक कायिक कर्मविभागस्तु कर्मशब्दस्य शुभाशुभसङ्कल्पादिरूपज्ञानेऽपि प्रयोगात् । अतः षडपि ज्ञानेन्द्रियाणि[1]। ज्ञानपरत्वेनैव कर्मणो मानसवाचिककायिकविभागा न तु कर्मपरत्वेन । इत्येवं प्रकारेण मनसो कर्मेन्द्रियत्वं निरस्य ज्ञानेन्द्रियत्वं न्यायसिद्धाञ्जने प्रतिपादितम् ।

इन्द्रियाणि प्राकृताप्राकृतभेदात् द्विधा भवन्तीति कथितम् । तत्र प्राकृतमनोलक्षणमुक्तमस्ति न्यायसि-द्धाञ्जने यत् - अशुद्धसत्त्वे सति पञ्चविषयसाधारणेन्द्रियत्वम्, स्मृतिकारणेन्द्रियत्वमित्यादि प्राकृतमनोलक्षणम् [2]। मनः राजसाहङ्कारसहकृतात्सात्त्विकाहङ्कारादुत्पद्यत इति तस्या शुद्धसत्त्वत्वम् । रूपादिषु पञ्चविषयेषु चक्षुरादीनि नियतानीन्द्रियाणि, मनस्तु साधारणं भवति। स्मृतेः कारणमपि भवतीति पूर्वोक्तलक्षणसमन्वयः। एवञ्च विशिष्टाद्वैतिनां मते मनसः ज्ञानेन्द्रियत्वं सिद्धम्।

**मनसः उत्क्रान्तिः :-**

जीवात्मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानसाधनं मनः । यथोक्तमस्ति श्रीभाष्ये - निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानं जनयतीत्यवगम्यते । [3] , मरणकाले शरीरान्निर्गच्छद्भिः प्राणैस्सह निर्गच्छति। इन्द्रियाणामुत्क्रान्तिप्रकार: श्रीभाष्येऽभिवर्णितः। तत्र प्रथम वाक् मनसि लीयते। वागादीनामिन्द्रियाणां मनोऽधीनवृत्तिमत्त्वात् वाचो मनसि सम्पत्तिः। अत एव वागिन्द्रियस्योपरमानान्तरमपि मनः प्रवृत्तिर्दृश्यते । यथोक्तमस्ति श्रीभाष्ये - दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तः [4]। वाक् मनसि संपद्यते इति यदुक्तं तत्र वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः न तु लयः। ततः वाचमनुसृत्य सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते । सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणेन संयुज्यते । प्राणः जीवे सम्पद्यते जीवस्तु पञ्चभूतैस्संयुज्य ततः परब्रह्मणीति संयोगक्रमः प्रदर्शितः। यथोक्तम् श्रीमद्रामानुजाचार्येण श्रीभाष्ये - सः प्राणः अध्यक्षे करणाधिपे जीवे सम्पद्यते [5] । न्यायसिद्धाञ्जने उत्क्रान्तिक्रमः एवं निर्दिष्टः । "उच्चिक्रमिषतः सर्वस्य पूर्व वागिन्द्रियं तदनु च शेषाणि नवेन्द्रियाणि मनसा सह विभागं गच्छन्ति । तच्च सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणेन ।

[1] न्यायसिद्धाञ्जनम् - पृ.सं. 194

[2] न्यायसिद्धाञ्जनम् - पृ.सं. 194

[3] श्रीभाष्यम् 1-1-4 पृ.सं. 75

[4] श्रीभाष्यम् 4-2-1 पृ.सं. 337

[5] श्रीभाष्यम् 1-2-4 पृ.सं. 338.

सचैकादशेन्द्रियसंयुक्तो जीवेन । स चेन्द्रियप्राणसंयुक्तः पञ्चभूतैः । तानि चेन्द्रियप्राणजीव-संयुक्तानि परमात्मना । एतावच्च विद्वदविदुषोः साधारणम्'[1] इति । एवञ्च दशेन्द्रियाधिष्ठातुर्मनसः प्राणे सम्पत्तिरिति अवगम्यते।

**मुक्तौ मनसः नित्यत्वम्मम् –**

मनसः उत्पत्तिश्रवणादनित्यत्वमिति पूर्वमेव कथितम्। मुक्त्यवस्थायांमोक्षङ्गतानां मनः नित्यं भवतीत्यत्रोच्यते। तदुक्तं न्यायसिद्धाञ्जने - इन्द्रियाणितु तत्रत्यानि सर्वाण्यपि नित्यानि, तत्रत्य व्योमादिवदेवापादाननिरपेक्षत्वात्"।[2] इति । एवमीश्वरादीनाम्मनोऽपि नित्यं भवति। ईश्वरादीनां मनस्सद्भावे प्रमाणतु भट्टपराशरादीनां वचनान्येव। तानि वचनानि न्यायसिद्धाञ्जने उदाहृतानि, यथा - भट्टपराशरपादैश्च ईश्वरादीनां मनस्सद्भावो दर्शितः। यथा यद्यप्येवं तर्कः स्वातन्त्र्येण स्वान्तसमर्थनासमर्थः, तथाप्यागमानुग्रहेण प्रभवति। सन्ति । चागमाःमनसैतान् कामान् पश्यन् रमते, मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः, सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत मनसैव जगत् सृष्टम्, ''एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" परावरप्रकरणेषु इति स्वयमुक्तत्वात्[3] । इति । अत्र मनः शब्दस्य बुद्धिरेवार्थ इति केचन आचार्याः, मन एवार्थ इति केचनाचार्याश्च मन्यन्ते । यथोक्तमस्ति न्यायसिद्धाञ्जने - बुद्धिरेवेदं मन इति मतान्तरमाचार्याणाम् । बुद्धिमान् मनस्वी इत्यविशेष निर्देशात्, क्षुभितं मे मनः प्रशस्तं मे मनः इति । तदवस्थापरोक्ष्याच्च इति मतान्तरमुक्तम् ।[4] एवञ्च मनसोऽपि कदाचिन्नत्यत्वमस्तीत्यवगम्यते ।

**संदर्भाः -**


१. योगदर्शनम् - भारतीयविद्याप्रकाशन - वाराणसी - 1963
२. भारतीयदर्शनम् - शशिप्रभाकुमार, विद्यानिधिप्रकाशन, दिल्ली - 1999
३. षड्दर्शनसूत्रसंग्रहः - जे.एल.गुप्ता, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली - 2012
४. श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस - 2007
५. शब्दकल्पद्रुमः - - मोतिलाल बनारसिदास् - वाराणसी - 1961
६. श्वेताश्वेतरोपनिषदः – गीताप्रेस्, गोरखपुर - 2012
७. न्यायकुसुमाञ्जलि - चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली -2012
८. श्रीभाष्यम् - चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान - दिल्ली – 2016
९. न्यायसिद्धाञ्जनम् - गंगानाथझा ग्रन्थमाला - वाराणसी - 1888
१०. यतीन्द्रमतदीपिका - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन - वाराणसी - 1888
११. सर्वार्थसिद्धि - भारतीयज्ञनपीठ प्रकाशन - वाराणसी - 1995
१२. तत्त्वमुक्ताकलापः - चौखम्बा विद्याभवन - वाराणसी - 1983
१३. सांख्यकारिका - भारतीयविद्याप्रकाशन - वाराणसी -2012


[1] न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ.सं. 220
[2] न्यायसिध्दात्रजनम् 236
[3] न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ.सं. 235,236
[4] न्यायसिद्धाञ्जनम् ; पृ.सं. 236

# महाभारत के भीष्म पर्व में प्रकृति सौन्दर्य

प्रकृति पण्ड्या

शोधछात्रा संस्कृत विभाग

श्रमजीवी महाविद्यालय

जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ

उदयपुर (राजस्थान)

ई–मेल sonupandya1987@gmail.com

## सारांश –

इस महाकाव्य के सृजक व्यास जी की काव्य सृष्टि बहुत ही सुंदर हुई है, जिसमें कुरूवंश की कथा के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक व प्राकृतिक मूल्यों का छः पर्वों में बखूबी निर्वहन किया गया है। महाकाव्य की जगत प्रसिद्धि का कारण इसका प्रभावी कथानक है तथा इससे भी प्रभावी इसमें वर्णित श्रीकृष्ण का चरित्र। महाकाव्य स्वयं एक पुण्य ग्रंथ है किंतु इसमें अनेक ग्रंथ का उल्लेख है जो देखने में छोटे अवश्य हो सकते हैं परन्तु बहुत गहरे अर्थ से युक्त हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पवित्र होने के साथ–साथ सबसे बड़ा व महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है, जिसका हिंदु धर्म में बहुत ही महत्त्व है और यह इसी महाकाव्य के भीष्म पर्व का अंश है। प्रत्येक पर्व अपने–अपने स्थान पर अपनी–अपनी भूमिका रखता है और महत्ता भी रखता है किंतु भीष्म पर्व श्रीमद्भगवद्गीता के कारण पृथक ही भूमिका निभाता है। चार पर्वों में इसकी सृष्टि का कोई और सानी नहीं है। प्रथम पर्व जंबूखंडविनिर्माण पर्व व द्वितीय पर्व भूमि पर्व में प्रकृति के विभिन्न तत्वों का वर्णन वर्णित है। करूण एवं ओज की सृष्टि के मध्य प्रकृति की सुंदर, मनोहारी छटा का संयोजन कवि की प्रतिभा को दर्शाता है। छंद, अलंकार, रस एवं काव्य गुण सभी का समायोजन कर इस पर्व को अतिशायित किया गया है। विदेशी विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है।

मुख्य–शब्द : जंबू द्वीप, सुदर्शन द्वीप, प्रकृति की सुंदरता, भौगोलिकता आदि।

## प्रस्तावना–

प्राचीन भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् सर्वमान्य ग्रंथों में आदिमहाकाव्य महाभारत अग्रगण्य माना जाता है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासकृत महाभारत ग्रंथ की रचना तीन क्रम में पूर्ण हुई मानी जाती है, प्रथम जय जिसमें 8800 श्लोक हैं, तत्पश्चात् भारत जो कि योगेश्वर कृष्ण के माहात्म्य, पाण्डवों के सद्गुणों से युक्त सुन्दर व्यवहार व धृतराष्ट्र के पुत्रों के दुराचरण आदि वर्णन से बद्ध होकर 24000 पद्यों में पूर्ण हुआ। इसके बाद मूल कथानक सहित व उपाख्यानों से निबद्ध होकर 18 पर्वों में एक लाख अनुष्टुप् छन्द युक्त श्लोकों से रचित यह महाभारत ग्रंथ महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ जो शतसाहस्त्री संहिता के नाम से भी अभिहित है। यह आदिकाव्य केवल संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व साहित्य में भी अपना प्रधान स्थान रखता है। महाभारत एक अनुपम ग्रंथ है, जिसमें ज्ञान – विज्ञान के अद्वितीय कोश के साथ – साथ भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का इतिहास भी समाहित है। इतिहास तथा पुराण दोनों नामों से व्यवâत करने वाला यह ग्रंथ 'कार्ष्ण वेद' के नाम से भी जाना जाता है।

महाभारत शांत रस प्रधान सुâत् सम्मित महाकाव्य है जिसमें भारतीय संस्कृति के ग्राá स्वरूप के साथ आध्यात्मिक और व्यावहारिक रूप को कौरव – पाण्डवों के संघर्ष के व्याज से प्रस्तुत किया है। इस महाग्रंथ में विष्णुसहस्त्रनाम, श्रीमद्भगवद्गीता,

अनुगीता, गजेन्द्रमोक्ष, व भीष्मस्तवराज जैसे पांच भक्तिपूर्ण अंश भी समाहित हैं। 'भारत पंचमो वेदः' की उपाधि से यह महिमामण्डित है।

शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, शिवि उपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, नलोपाख्यान, हरिवंश पर्व, विष्णु पर्व तथा भविष्य पर्व जैसे आख्यान इसकी उपजीव्यता को बढ़ावा देते हैं। साहित्य पर इसकी अप्रतिम छाप छुटी है। गैरोला जी के इतिहास के अनुरूप 'महाभारत अपने मूल रूप में उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य का एक ऐसा ग्रंथराट् है जिसके छोटे – छोटे हिस्से, कालिदास, भवभूति, माघ, बाण प्रभृति ग्रंथकारों की कृतियों में मिल सकते हैं।'[1]

कई विद्वानों ने कई साहित्य खंगालें किन्तु महाभारत जैसा लेखन, कथन व ज्ञान कहीं प्राप्त नहीं हुआ और इसी सन्दर्भ में महाभारत हेतु वेदव्यास द्वारा कही उक्ति सर्व प्रचलित एवं चरितार्थ भी हुई है –

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।"[2]

यदि कोई जिज्ञासावश इस आर्यावर्त देश की सभ्यता व संस्कृति से परिचित होना चाहता है तो इसे निश्चित ही महाभारत की शरण जाना पड़ेगा। इस महाकाव्य का प्रगाढ़ अनुशीलन उस पिपासु हेतु अनिवार्य होगा क्योंकि धार्मिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और काव्यीय यहां तक कि संपूर्ण साहित्य प्रायः महाभारत पर ही अवलम्बित है। महाभारत में राष्ट्रभावना से ओत – प्रोत राजनीति है तो दूसरी ओर स्वार्थ एवं कुटिलता से परिपूर्ण राजनीति भी है तथा आचार एवं लोकव्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण करने वाली विदुर नीति इसे शास्त्रों में सुशोभित करती है। साथ ही धर्म और अधर्म का भेद करने वाली, हित और अहित का परिचय कराने वाली, भूत, भविष्य का दर्शन कराने वाली, समस्त कर्मों का परित्याग करा अपने निज स्वरूप में स्थिर कराने वाली कृष्ण नीति भी इसमें समाहित है।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, सन्यासयोग इत्यादि के ज्ञान से सराबोर इस महाकाव्य की रचना कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा हुई मानी जाती है किन्तु इसके कृमिक विकास के आधार पर महाभारत के प्रथम वक्ता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास रहे, जिन्होंने सम्पूर्ण कथा को अपने सुपात्र शिष्य वैशम्पायन को सुनाया, वैशम्पायन ने इस कथा को जनमेजय को सुनाया तत्पश्चात् तीसरी बार यह श्रवण कार्य लोमहर्षण पुत्र सौति द्वारा शौनक आदि ऋषियों को सुनाया जाना लोक प्रसिद्ध है। इस सुफल कार्य और लेखन कला को 18 पर्वों में निबद्ध किया गया है, जिसमें से भीष्म पर्व बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि इसके आंचल में योगेश्वर श्री कृष्ण के श्रीमुख से गायी हुई श्रीमद्भगवद्गीता समाहित है, जो इसकी विशेषता में चार चांद लगाती है। साथ ही इसकी महता में प्रकृति चित्रण का भी विशेष महत्व है, जिसके माध्यम से पर्व का लालित्य भी प्रशंसनीय हो गया है।

इसके अतिरिक्त महाभारत का रचना समय तीन वर्ष में पूर्ण हुआ, इसकी पुष्टि महाभारत में भी की गई है–

त्रिभिवर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभु।

अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः।।[3]

यह महाकाव्य न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, ज्योतिष, युद्धनीति, योगशास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र, खगोलविद्या एवं धर्मशास्त्र आदि के क्षेत्र में ज्ञान रूपी सूर्य के समान भास्वरित हो रहा है। वीरोचित वर्णन, सामाजिक चित्रण, धार्मिक चित्रण, आध्यात्मिक चित्रण व प्रकृति चित्रण सभी का बहुत ही मनोरम वर्णन यहां पर हुआ है। जिस पर केवल भारतीय लेखकों की कलम ही नहीं चली अपितु ज्ञानश्री से सम्पन्न सुप्रसिद्ध अनेक पाश्चात्य विद्वान् होपकिंस, विंटरनित्ज, मेक्डोनल, सिल्वांलेवी, हिरीन, मोनियर, विलियम्स आदि भी मुग्ध थे।

## मुख्य शब्द–

प्रकृति चित्रण –

भीष्म पर्व को प्रकृति चित्रण के वर्णन द्वारा बहुत ही निकटतम दृष्टि से निखारा गया है, जिसमें प्रकृति के सभी तत्वों का पृथक – पृथक सौन्दर्य बखूबी दृष्टिगत हो रहा है। प्रकृति के सभी तत्व महाभारत के भीष्म पर्व के चार उपपर्व, 6100 श्लोकों में निबद्ध हैं। प्रथम जंबूखंड विनिर्माण पर्व, द्वितीय भूमि पर्व, तृतीय श्रीमद्भगवद्गीता पर्व तथा चतुर्थ भीष्म वध पर्व हैं। इसमें से जंबूखंड विनिर्माण पर्व के मध्य भाग से भूमि पर्व तक प्रकृति का सौम्य चित्र प्रस्तुत होता है। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में धृतराष्ट्र द्वारा दिव्य दृष्टि युक्त गवल्गण पुत्र संजय भूमि के महत्व के विषय में जानने वाले उत्सुकता युक्त प्रश्न पर इस सम्पूर्ण भारतवर्ष का भौगोलिक वर्णन किया गया है। प्रकृति में स्थित प्रत्येक वस्तु अथवा चराचर इस जगत् के पंचमहाभूतों में व्याप्त माना है। प्रत्येक वस्तु में शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध के माध्यम से गुणों का निरूपण करते हुए इनकी साम्यावस्था व वैषम्यावस्था को स्पष्ट

किया है। वैषम्यावस्था से ही प्राणीमात्र के शरीर की उत्पत्ति होना बताया है। प्राणीमात्र के शरीर सहित प्रकृति में स्थित सभी तत्व अपरिमेय तथा ईश्वरीकृत हैं –

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः।

सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम्।।[4]

दिव्य वृक्षों तथा पुष्पों से आवृत्त जंबूद्वीप का अप्रतिम सौंदर्य –

ईश्वरकृत इस अद्भुत सृष्टि में स्थित जंबूद्वीप का अप्रतिम प्रकृति सौंदर्य भीष्म पर्व में निखर गया है। जंबूखंडविनिर्माण पर्व तथा भूमि पर्व में लहलहाते दिव्य वृक्ष, खिलते हुए विभिन्न दिव्य पुष्प इत्यादि का विशेष वर्णन प्राप्त है। इस सुन्दर व सौम्य द्वीप पर स्थित नीलगिरि से दक्षिण तथा मेरूपर्वत के उत्तरभाग में पवित्र उत्तर कुरुवर्ष का उल्लेख प्राप्त है जो सदा दिव्य, मधुर एवं स्वादिष्ट फलों तथा सुगन्धित पुष्पों से लदा हुआ है, जिसकी अनुपम छटा मनोहारी है।

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।

अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप।।[5]

ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।

वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च।।[6]

मेरू पर्वत के पूर्वभाग में भद्राश्व वर्ष का वर्णन प्राप्त है जिसकी शिखर पर अति रमणीय भद्रशाल नामक वन हैं जहां पर कालाम्र नाम का अतीव सुन्दर वृक्ष है, जो कल्पनातीत है–

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः।

द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः।।[7]

और इस वृक्ष की उपयोगिता ओर अधिक श्रवण प्रिय है–

दश वर्षसहस्त्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ।

कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवना।।[8]

इन दिव्य वृक्षों की श्रृंखला में नीलगिरि के दक्षिण में और निषध के उत्तर में सदा स्थिर रहने वाला, मनोवांछित फलों का दाता, सिद्धों और चारणों को आश्रय देने वाला और सबसे मुख्य बात कि उसके नाम पर ही यह सनातन प्रदेश जंबूद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है वह है सुदर्शन नामक एक विशाल जामुन का वृक्ष। इसके संबंध में एक अद्भूत कथन महाभारत में प्राप्त है – ''गयारह सौ योजन ऊँचाई वाले इस वृक्ष के पके हुए फलों से सुवर्ण सदृश रस बहता है जिसे खाने के पश्चात् वृद्धावस्था नहीं सताती।''[9]

''तस्य नाम्ना समाख्यातो तम्बूद्वीपः सनातनः।।''[10]

इसके अतिरिक्त और भी दिव्य वृक्षों का वर्णन प्राप्त होता है जिनसे वहां की भूमि वनों से आच्छादित है, सुमेरुपर्वत उत्तर भाग में सभी प्रकार की ऋतुओं के फूलों से लदा हुआ अत्यन्त मनमोहक व आकर्षक लगता है। यहां दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार के वृक्षों का वन है। महाभारत में इसका उल्लेख प्राप्त होता है, कहा गया है कि ''त्रिनेत्रधारी भगवान् पशुपति पांवों तक लम्बी इसके पुष्पों की माला को धारण कर भगवती उमा के साथ यहां विहार करते हैं।''[11] इस प्रकार ऐसे अनेक दिव्य वृक्षों की दिव्यता एवं सौन्दर्य इसमें उल्लेखित है।

मनोहारी एवं उच्चतम पर्वतों से परिपूर्ण –

हरितिमा की चादर ओढे, भोर के सूरज की स्वर्णिम रश्मियों में छरहरी काया से चमकने वाले तथा सुहानी एवं रक्तिम सांझ में अवगाहन करते पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर विस्तृत रूप में फैले हुए तथा दोनों ओर से पूर्व तथा पश्चिम समुद्र में घुसे हुए छः पर्वत अतिमनोरम दृष्टिगत होते हैं –

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।

नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः।।[12]

सर्वधातुविचित्रश्च श्रृ³ंगवान् नाम पर्वतः।

एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः।।[13]

हरिवर्ष का प्रकृति चित्रण किया है जो अत्यन्त रमणीय हुआ है। जहां नीलगिरि के दक्षिण और निषधपर्वत के उत्तर – पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तृत माल्यवान् व उससे भी आगे गन्धमादन पर्वत का विस्तार हैं जो इस धरातल को अत्यधिक सुशोभित कर रहा है। इन दोनों के बीच में मेरूपर्वत अतीव शोभनीय है, जिसे प्रातः कालीन सूर्य के प्रकाश से कम नहीं आंका जा सकता –

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरूः कनकपर्वतः।

आदित्यतरूणाभानो विधूम इव पावकः।।[14]

यह वही मेरू पर्वत है, जो चौरासी हजार योजन Åँचा व इतना ही पृथ्वी के अन्दर घुसा हुआ है।

पर्वतों के मध्य अप्रतिम व अद्‌भुत द्वीपों का वर्णन –

भीष्म पर्व में जिन द्वीपों का वर्णन किया गया है वे वास्तव में अद्‌भूत हैं, जिनकी छटा से वह दृश्य अलग ही पहचान बनाता है। चक्र की भांति गोलाकार सुदर्शन द्वीप जिसे नाना प्रकार की नदियां आच्छादित करती हैं, मेघ के समान उच्चतम पर्वत उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा चहूं ओर से क्षारीय जल ने घेर रखा है। ऐसी अनूपम छटा बिखेरे हुए यह द्वीप चन्द्रमण्डल से देखने पर भी अनूठी छाप छोड़ता है।

यथा हि पुरूषः पश्येदादर्शे मुखमात्मानः।

एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले।।[15]

महाभारत का प्रकृति चित्रण उस सुन्दरी के समान है जो स्वयं सौन्दर्य का प्रतिरूप है, जिसे शोभावर्धक बाá आडम्बरों की आवश्यकता नहीं अर्थात् स्वतः अलंकार व रसों का आविर्भाव हुआ है। उपमा के साथ अतिश्योक्ति को बढ़ावा न देकर स्वभावेक्ति को बनाए रखा है, जिससे यह अधिक प्रभावी व रोचक हुआ है। समुद्र से लगे हुये पूर्व से पश्चिम तक छः वर्ष पर्वतों का जो वर्णन किया है, बहुत सुन्दर व मनोहारी हुआ है। समुद्र की हर लहर इनसे टकराती है और यह पर्वत समुद्र की सीमा पर लगे अटल दिखते हैं।

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।

नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः।।[16]

सर्वधातुविचित्रश्च श्रृ³ंगवान् नाम पर्वतः।

एते वै पर्वता राजन् सिद्ध चारण सेविताः।।[17]

इन पर्वतों के मध्य यह सुदर्शन द्वीप चन्द्रमण्डल से देखने पर शशाकृति के समान अद्‌भुत छवि लिये दिखाई देता है, इसके दक्षिण और उत्तर में स्थित भारत और ऐरावत नामक दो द्वीप पार्श्वभाग के सम दृष्टिगोचर होते हैं, नागद्वीप और काश्यद्वीप दोनों कान के समान तथा ताम्र वर्ण के वृक्षों और पत्तों से अलंकृत मनोहारी मलय पर्वत इसके शीश के समान बहुत सुंदर दिखाई देता है।

ताम्रवर्णः शिरो राजञ्छ्रीमानृ मलयपर्वतः।

एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंसितिम्।।[18]

इसके अतिरिक्त जिसके पार्श्व भाग में भद्राश्व, केतुमाल, जंबूद्वीप तथा उत्तरकुरू नामक चार द्वीप हैं। ग्रहों में श्रेष्ठ सूर्यदेव, चंद्रमा, वायुदेव, नक्षत्रों सहित सदैव इसकी परिक्रमा करते रहते हैं। दिव्य पूष्पों एवं फलों से सम्पन्न इस पर्वत पर जाम्बूनद

नामक सुवर्ण से विभूषित भवन सुशोभित हैं तथा यह इतना रमणीय स्थान है कि यहां पर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएं सदा कीड़ा करती रहती हैं। इसके उत्तर भाग में भगवान् पशुपति देवी उमा के साथ बिराज कर इसकी शोभा बढ़ाते हैं, यह स्थान दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार के वनों तथा समस्त ऋतुओं के फूलों से भरा हुआ प्रकृति का विहंगम दृश्य पाठक मन पर चित्रित करता है।

वर्षखण्ड एवं उनकी अवस्थिति –

नील पर्वत से उत्तर में श्वेतवर्ष और श्वेतवर्ष से उत्तर में हिरण्यकवर्ष हैं उसके बाद श्रृंगवान् पर्वत से आगे ऐरावत वर्ष स्थित है। इस प्रकार यह सारी पृथ्वी पर्वतों से घिरी हुई सुशोभित हो रही है तथा इन्हीं पर्वतों से शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गंगा अपनी सप्त धाराओं से इन पर्वतों के चरण पखारती हुई पृथ्वी को वैजयंती माला के समान अलंकृत करती है।

वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती।

जंबूनदी च सीता च गंगा सिन्धुश्च सप्तमी।।[19]

ईश्वर द्वारा इस प्रकृति को जो स्वरूप प्रदान किया गया है, उसका यथावत् स्वाभाविक वर्णन इस महाकाव्य में प्राप्त होता है फिर भी यह चामत्कारिक व आलंकारिक दृष्टिगत हो रहा है। इन पर्वतों के मध्य बसे वर्ष (खण्ड) अलौकिकता लिये हुए है। नीलगिरि से दक्षिण में स्थित कुरूवर्ष जो सदैव सुगन्धित पुष्प एवं मधुर और स्वादिष्ट फलों से लदा रहता है तथा वहां के वृक्ष मनोवांछित फल देने वाले हैं। क्षीरी नामक वृक्ष का बहुत सुन्दर चित्रण किया है, जिसकी दिव्यता अद्भूत है –

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।

अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तव नराधिप।।[20]

ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।

वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च।।[21]

कुरुवर्ष की भूमि की शोभा –

कुरूवर्ष की भूमि दुर्लभ मणिमय आभूषण धारण की हुई देवा³नाओं की देह की भांति चमकती दिखाई देती है, इसका अद्भूत एवं अप्रतिम सौन्दर्य इस पद्य में परिलक्षित हुआ है –

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका।

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्प³का च जनाधिप।

पुष्करिण्यः शुभस्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः।।[22]

इस वर्णन में यहां की भूमि को स्त्री की उपमा दी है यहां मानवीकरण अलंकार लक्षित हो रहा है। प्रकृति सौंदर्य के ऐसे अनूठे चित्रण महाभारत में कई स्थानों पर प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सृष्टि के मूल वाहक स्त्री – पुरूष की सुन्दरता भी अतीव शोभनीय तथा मनमोहक है। वहां का प्राकृतिक दृश्य श्वेत वर्ण के पुरूष तथा कुमुद पुष्प के समान गौरवर्ण वाली स्त्रियों के अप्रतिम सौंदर्य से और अधिक रमणीय व चमत्कारिक हो जाता है –

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।

चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीत विशारदाः।।[23]

भारतवर्षः एक तपोभूमि के रूप में –

भारतवर्ष में सात कुल पर्वत स्थित हैं जो इसकी शोभा को और अधिक बढ़ाने में सफल होते हैं। अनेक द्वीपों, पर्वतों एवं दिव्य वृक्षों से भरी पूरी यह भूमि विश्व में पृथक ही शोभा बढाये हुए है। यहां की प्रकृति का यह मनोहारी दृश्य केवल श्रृंगार हेतु रोमांचित ही नहीं करता है अपितु यह सन्यासियों की तपोभूमि भी है। इन्हीं वर्षखण्डों में भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति प्राप्त होती है तथा इसकी दिव्यता के भी प्रमाण शास्त्रों में प्राप्त हैं जहां पर तपस्या कर के मुनिजन भगवान् महेश्वर का वर्णन कर स्वयं को तथा मनुष्य जन्म को धन्य करते हैं।

यहां की छटा और अधिक तब मनभावन हो जाती है जब दुग्ध के समान श्वेतधार वाली, परम पुण्यमयी भागीरथी गंगा प्रबल वेग से मेरू पर्वत के चरणों में स्थित चन्द्रकुण्ड में गिरती है –

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वरः।

विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना।।[24]

पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गंगा भागीरथी शुभा।

प्लवन्तीव प्रवेगेन âदे चन्द्रमसः शुभे।।[25]

मेरूपर्वत की शोभा व महत्ता का उल्लेख कई शास्त्रों में है, जैसे रामायण, महाभारत एवं पुराणों इत्यादि में। इन्हीं पर्वतों तथा इनकी गुफाओं में पाण्डवों ने भी वनवास के समय को तपस्या करके व्यतीत किया, तपस्या के बल पर अनेक अस्त्र–शस्त्र तथा गुप्त विद्यायें प्राप्त की। ऐसे पर्वतों में श्रेष्ठ पर्वत मेरु की अवस्थिति महाभारत से ज्ञात होती है–

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते।।[26]

इस मेरूपर्वत के पश्चिम में स्थित केतुमाल द्वीप उसकी शोभा को द्विगुणित कर देता है। यहां स्थित जंबूखंड प्रदेश नंदन वन के समान ही अत्यंत मनोरम है। जितनी सुन्दरता प्रकृति ने धारण कर रखी है उतनी ही सुंदरता सृष्टि के वाहक तत्व यहां के स्त्री – पुरूषों के जोडे ने भी धारण कर रखी है–

सुवर्णावर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।

अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः।।[27]

महेन्द्रो मलयः सáः शुक्तिमानृक्षवानपि।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः।।[28]

प्रकृति के सौन्दर्य में शोभावर्धकः नदियां –

इन विचित्र शिखरों से बहने वाली सुस्वादु एवं विशाल जलराशि वाली विभिन्न नदियां इस भारतवर्ष को अलंकृत करती हैं। उत्तर में हिमालय में गौमुख से गंगा नदी का उद्गम है जो भारत वर्ष के शीर्षस्थ भाग को अपने श्वेत प्रवाह से सुशोभित करती है और मध्य तक आकर पूर्वी भाग को अपना सर्वस्व प्रदान करके पूर्व में ही समुद्र में मिल जाती है। इसकी सबसे बड़ी सहायक नदी यमुना है, जिसने श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश देने वाले भगवान श्री कृष्ण के चरणों का स्पर्श करके स्वयं को धन्य किया था। और उसके काले पानी के कारण कालिंदी कहते हैं। भारत का उत्तरी भाग गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयु आदि विशाल आपगाओं से पुर्व तक आवृत्त है जो कि रजत ताज की भांति भारत के शीष पर शोभायमान है। नर्मदा, वेत्रवती, क्षिप्रा, गोमती, आदि नदियॉ मध्य में प्रवाहित होती हुई करधनी के समान सुशोभित होती हैं। गोदावरी, शरावती, बाहुदा, महानदी, कावेरी, चर्मण्वती, वेदिका इत्यादि नदियां कल – कल, छल – छल नाद के साथ पैंजनी के समान भारत के दक्षिण छोर को अतीव रमणीय बनाती हैं। इसके अतिरिक्त और कई नदियां हैं जो इस भारत वर्ष की शोभा बढाती हैं।

नदीं पिबन्ति विपुलां गंगा सिंधुं सरस्वतिम्।

गोदावरीं नर्मदा च बाहुदां च महानदीम्।।[29]

शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम्।

दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम्।।[30]

नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम्।

इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि।।[31]

वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम।

करीषिणां चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम्।।[32]

इसके अतिरिक्त भी कई नदियां भारतवर्ष में बहती हैं जो नित्य शोभा बढ़ाती हैं। गोमती, धूतपापा, महानदी, लोहितारिणी, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, शरावती, भीमरथी, कावेरी, सिन्धु, महेन्द्रा, पाटलावती, विश्वामित्रा, कपिंजला, बृहद्वती, जाम्बूनदी, तमसा, कृष्णा, मंदाकिनी, वैतरणी आदि अनेक नित्यवाही नदियां हैं जिनमें से कई नदियों के नाम परिवर्तित हो चुके हैं। ऐसी कई नदियों, पर्वतों, वृक्षों एवं अनेक जनपदों से युक्त यह भूमि कामधेनु जैसी है जिसका अपने गुण और बल के अनुसार अच्छी तरह पालन किया जाय तो यह मनोकामना पूर्ति करने वाली है, यह धर्म, अर्थ और काम तीनों महान् फल प्रदान करने वाली है।

## निष्कर्ष –

यह धर्मग्रन्थ ही नहीं अपितु कर्मग्रन्थ एवं ज्ञानग्रंथ भी है क्योंकि यह केवल धर्म के विषय में ही जानकारी नहीं देते हैं अपितु हर क्षेत्र में ज्ञानार्जन कराते हैं, चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक, चाहे वह दार्शनिक हो या प्राकृतिक हो या फिर भौगोलिक। इन्हीं तथ्यों पर खरे उतरने वाले ग्रन्थों में एक महाभारत भी है। महाभारत के भीष्म पर्व में सम्पूर्ण पृथ्वी की प्रकृति का अप्रतिम व अद्भुत दृश्य चित्रित किया है। पृथ्वी पर स्थित द्वीप, उनके चारों ओर खड़े पर्वत जो कि हर आपदा से इस भू खण्ड की सुरक्षा करते हैं तथा इनके शीर्ष से प्रवाहित होने वाली पवित्र व रमणीय सरितायें इसकी भौगोलिक सीमाओं को दर्शाती हैं। मनमोहक रूप वाली इस पृथ्वी का भौगोलिक स्वरूप आज से कई वर्षों पहले अथवा कहा जाये तो युगों पहले ही स्पष्ट था। यह उन तपस्वी ऋषि – मुनियों के ज्ञान की ही देन है। महाभारत में प्रकृति का कल्पनातीत, असाधारण एवं दुर्लभ वर्णन प्राप्त है, जो अन्यत्र की अपेक्षा व्यास जी के ग्रंथ में अधिक विशिष्ट रूप में प्राप्त है। भीष्म पर्व के प्रथम दो उपपर्व में प्रकृति का अकल्पनीय चित्रण हुआ है, जो इसकी सुन्दरता को और अधिक बढ़ाता है।

## सन्दर्भ –


1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, अध्याय 5, पृ.सं. 204
2. वेदव्यास कृत महाभारत, आदिपर्व
3. वेदव्यास, महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 56, श्लोक 52
4. वेदव्यास, महाभारत, भीष्मपर्व, जंबूखंड विनिर्माण पर्व, अध्याय 5, श्लोक 10, पृ.सं. 591
5. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, सप्तम अध्याय, श्लोक सं. 4 व 5, पृष्ठ सं. 596
6. वहीं, श्लोक 5
7. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, सप्तम अध्याय, श्लोक सं. 15, पृष्ठ सं. 597
8. वहीं, श्लोक 18
9. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, सप्तम अध्याय, पृष्ठ सं. 597 – 598
10. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, सप्तम अध्याय, श्लोक सं. 20, पृष्ठ सं. 597
11. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, षष्ठम अध्याय, पृष्ठ सं. 593
12. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, षष्ठम अध्याय, श्लोक सं. 4, पृष्ठ सं. 592
13. वहीं, श्लोक 5
14. महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, षष्ठ अध्याय, श्लोक सं. 10, पृष्ठ सं. 592
15. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जखविप., अध्याय 5, श्लोक 16, पृ.सं. 591
16. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 6, श्लोक 4, पृ.सं. 592
17. वहीं, श्लोक 5
18. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 7, श्लोक 56, पृ.सं. 596

19. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 6, श्लोक 48, पृ.सं. 595

20. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 7, श्लोक 4, पृ.सं. 596

21. वहीं, श्लोक 5

22. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 7, श्लोक 6, पृ.सं. 596

23. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 7, श्लोक 17, पृ. सं. 597

24. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 6, श्लोक 28, पृ.सं. 594

25. वहीं, श्लोक 29

26. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 6, श्लोक 31, पृ.सं. 594

27. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 6, श्लोक 33, पृसं. 594

28. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 9, श्लोक 11, पृ. सं. 600

29. वेदव्यास, महाभारत, भीष्म पर्व, जंबूखंडविनिर्माण पर्व, अध्याय 9, श्लोक 14, 15,16,17, पृ. सं. 601

30. वहीं, श्लोक 15

31. वहीं, श्लोक 16

32. वहीं, श्लोक 17

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. महाभारत, तृतीय खण्ड, भीष्म पर्व, साहित्याचार्य पं0 रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय राम, चौदहवां पुनर्मुद्रण, संवत 2072, गीता प्रेस गोरखपुर
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, सम्पादक डा0 बहादुर चन्द छावडा, पंचम संस्करण, 1997, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।

## सृष्टितत्त्वानुचिन्तने दार्शनिकतत्त्वम्

**श्रीमती पूर्णमासी देवी,**

दर्शनं मोक्षलाभाय सहायकं भवति। आध्यात्मिकविद्या, चिन्तनं, ज्ञानं, पुरुषार्थश्चेति चतुष्टयं दर्शनस्य वैशिष्ट्यं भवति। दृश्यते ज्ञायते विचार्यते परमतत्त्वमनेन इति दर्शनं भवति। अर्थात् येन साधनेन परमतत्त्वं दृश्यते, परमतत्त्वं ज्ञायते येन, परमतत्त्वं विचार्यते, तदेव दर्शनम्। अतएवोक्तं श्रुतिषु – *आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।*[१]

अर्थात् आत्मनो वाऽरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवतीति महर्षियाज्ञवल्कयस्यायम् उपदेशः भारतीयदर्शनस्य आधारभित्तिरित्यवधार्यते। आत्मसाक्षात्कार एव सर्वस्यापि प्राणभृतः चरमोद्देश्यम्। स च श्रवणमनननिदिध्यासनेनैव सम्भवति नान्याथा। अत एव महर्षिभिः श्रवणमननादीनि दर्शनहेतुत्वेनोपात्तानि। तद्यथा-

*श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येयः इति दर्शनहेतवः।।*[२]

लक्षणसंग्रहे दर्शनस्य लक्षणं कुर्वता श्रीगौरीशङ्करभिक्षुणा प्रोक्तम्- *विचारप्रयोजकं ज्ञानं दर्शनम्।*[३] पुनश्च- *तत्त्वज्ञानसाधनशास्त्रमिति।*[४] अतः विचारप्रयोजकत्वं तत्त्वज्ञानसाधनत्वं वा दर्शनशास्त्रस्याभिप्रायः। अर्थात् विचारविमर्षेण ज्ञायते यत् दर्शनं नाम सदसज्ज्ञानसोपानमिति। एवमेव दर्शनप्रपञ्चे विचारिताः बहवः विषयाः सन्ति। सारस्वतरसपीयूषपानरतानां समग्रे भारतवर्षे सफलसंस्कृतानुवादकरूपै सततं सुपरिचितानां संस्कृताकादेमीप्रभृतिभ्यः समुपलब्धपुरस्कारसभाजितानाम् आचार्यभागीरथिनन्दमहाभागानाम् अनूदितग्रन्थेषु गुरुवर्याणां चन्द्रभानुशतपथिमहाभागानां (गोप्य रु अगोप्य) सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम् इति अनूदितग्रन्थे स्थितानि ब्रह्मतत्वादिदार्शनिकतत्त्वानि अत्रालोच्यन्ते।

**ब्रह्मतत्त्वम्-** जीवनं कुतः प्रारभ्यते? सृष्ट्या सह जीवस्य कः सम्बन्ध? जीवनस्य कुत्रावसानम्? अस्य किं प्रयोजनम्?- इत्यादीनां सूक्ष्मविवेचनैः परंब्रह्म, शून्यब्रह्म, निर्गुणब्रह्म, अक्षयब्रह्म, ईश्वरः, अनन्तपुरुषः, हिरण्यगर्भः, विराटपुरुषः, कालपुरुषः, पुनः अकालपुरुषः, वा कल्पनायां ग्रन्थेऽस्मिन् वर्ण्यते यत् – *परब्रह्मनिराकारानन्तनिर्गुणवादिनैः। आदिस्थितिर्महाशून्यं ब्रह्मणः केवलं स्मृतम्।।*

*शून्यमेव परब्रह्म तदेव ब्रह्मणः स्थिति। सर्वेषां विलयश्चान्ते जायन्ते शून्यब्रह्मणि।।*[५]

पुनश्च- *अनादिपुरुषः साक्षाद् ब्रह्मणो नाम चापरम्।*[६]

अर्थात् शून्ये ब्रह्मणः स्थितिः भवति। शून्यगर्भे कालः विश्वं वा न वर्त्तते। अतः ब्रह्म अकालपुरुष एव। ब्रह्मणः अकालपुरुषसज्ञायां यथा -

*शुन्यगर्भे न वा कालो न वा विश्वञ्च वर्त्तते। अकालपुरुषस्त्वेव नामास्ति ब्रह्मणःस्ततः।।*[७]

आदिकाले आत्मरूपं, गुणं, शक्तिं च धृत्वा क्षुद्रक्षुद्राणुरूपेण अव्यक्तभावेन केवलम् अनन्तपुरुषः आसीत्। तदानीं न कोऽपि, न सृष्टिः, न स्थितिः, न प्रलयः, न च ब्रह्माण्डसम्भारः आसन्। तस्मिन् शक्तिपुरुषयोर्भेदः नासीत्। सः योगावेशे दृश्यादृश्यं सर्वं जगत् निजान्तरे गोपयित्वा निश्चिन्तः सुप्तवान्। यदा स अदृश्यः आसीत्, तदा इच्छाशक्तिः, ज्ञानशक्तिः, क्रियाशक्तिश्च जागृताः नासन्। जडजीवानां चेतनायाश्च विभेदो नाभवत्। अनन्तपुरुषविषये ग्रन्थेऽस्मिन् यथा- *आदिकाले त्वमेवासीरनन्त! तु नहीतरः। क्षुद्रक्षुद्राणुरूपेण स्वात्ममग्नस्सदाऽभवः।।*

*न सृष्टिर्न स्थितिर्नापि कालो न प्रलयस्तदा। नैकब्रह्माण्डसम्भारः सर्वत्राणौ तदाऽभवत्।।*[८]

तैत्तिरीयोपनिषदि अनन्तं हि ब्रह्म उच्यते, तदुक्तम्- *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*[९]

ऋग्वेदानुसारं - *नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।*

*न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चिनास।।*

*तम आसीत्तमसा गूहलमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वाऽइदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।*[१०]

श्रीमद्भागवते- *कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु। तमस्तदास्त्द् गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजिते विभुः।।*[११]

सृष्टेः प्राक् सर्वप्रथमतः केवलम् अव्यक्तब्रह्म आसीदिति अग्निपुराणकारेणोक्तम्-

*ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्नरवं रात्रिदिनादिकम्। प्रकृतिः पुरुषं विष्णुं प्रविश्याक्षोभत्ततः।।*[१२]

एकदा निजरूपगुणैः शक्तिभिः अव्याक्तरूपिणा गोपने स्थित अनन्तपुरुषः आदिबिन्दुरूपेण यदा प्रकटित अभवत्, तदा तस्मिन् बिन्दुगर्भमध्ये सकलं जगत् आसीत्। विराटपुरुषरूपेण सः हिरण्मयः, असंख्यविश्वचक्रस्य आधारश्च। हिरण्यगर्भमध्ये अतुलं विश्वं गोपयित्वा ते शाश्वती पावनी लीला रचिता। हिरण्यगर्भरूपेण सः प्रकाशितः जातः। तदुक्तं सृष्टितत्त्वानुचिन्तने, यथा-

*आदिबिन्दुस्वरूपेण यदा प्रकटितो भवान्। तद्बिन्दुगर्भमध्ये तदभवत् सकलं जगत्।।*

*त्वमेवास्यादिविस्तारः प्रकटितस्वरूपतः। हिरण्यगर्भरूपेण त्वं च जातः प्रकाशितः।।*[१३]

ऋग्वेदानुसारं यथा- *हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।*

*स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।*[१४]

हिरण्यः नाम तेजः, तत्तेजः सदा क्षरित्वा आदौ विन्दुशरीरं विस्तृतं भुत्वा अण्डरूपेण आगत्य अनन्तयोजनं व्याप्नोत्। तदा अतिकम्पः, अतिशब्दः, अतितापश्च अभवन्, हिरण्याण्डस्य गर्भात् ॐकारः समजायत। तदुक्तं सृष्टितत्त्वानुचिन्तने, यथा-

*अतिकम्पोऽतिशब्दोऽपि चातितापस्तदाऽभवन्। हिरण्याण्डस्य गर्भात्तु ॐकारः समजायत।।*[१५]

महाशून्यस्य महाविश्वस्य च सन्धिस्थाने तद्विश्वसर्जनाकारिचैतन्यब्रह्म सम्भवति। ब्रह्मणः जन्मनः हेतो हि सः चैतन्यब्रह्मपुरुषः। क्षयहीनत्वात् सः अक्षयपुरुषः। हिरणमयाण्डरूपेण ब्रह्म सर्वत्र विद्यते। तस्य विष्फोटनेन विराटपुरुषः सम्भवति। विश्वसृष्टिक्षणादेव कालः आविर्बभूव। तस्मात् क्षणात् ब्रह्म कालपुरुष उच्यते। ब्रह्मणः कालपुरुषसज्ञायां सृष्टितत्त्वानुचिन्तने उच्यते यत्-

*कालस्य गणना जाता प्रथमसृष्टितो यदा। सृष्टेरारम्भतः ख्यातस्त्वं कालपुरुषस्ततः।।*[१६]

ब्रह्मणः कालपुरुषः, अकालपुरुषश्चेति सज्ञायां मैत्र्युपनिषदि वर्ण्यते यत्, ब्रह्मणः स्वरूपद्वयम्। कालः अकालश्च। आदित्यात् प्रागेव यो स्वरूपः सः अकालः, आदित्यात् यः प्रवर्त्तितः, तस्मात् परं सः कालः। तदुक्तं मैत्र्युपनिषदि यथा-

*द्वे नाम ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चय यः प्रगादित्या- त्सोऽकालोऽकलोऽथ य आदित्याद्यः स कालः सकलः।।*[१७]

कालसज्ञायां कपिलमुनेः सांख्यदर्शने यथा-

*नापि कालसम्बन्धानिमित्तिकः पुरुषस्य बन्धः। कुतद्य व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सर्वविच्छेदेन सर्वदा मुक्ताऽमुक्तसकलुपुरुषसम्बन्धात्।*[१८]

**महातत्त्वम्-** महातत्त्वविषये सृष्टितत्त्वानुचिन्तने उच्यते यत् परमात्मनः परंब्रह्मेति नाम विद्यते। ब्रह्मणः शक्तिः सर्वदा सार्वभौमा इति प्रचक्षते। तस्य निर्गुणं, निर्लिप्तं, अनादि, अनन्तम्, अक्षरम् इति स्वरूपमुच्ये। तस्य मानसे सृष्टेः इच्छा यदा जायते, सा इच्छा महातत्त्वस्वरूपतां धारयति। महातत्त्वं प्रकृतेः सुक्ष्मतमं ज्ञानं, यत् सृष्टिकल्पनावुद्धेः प्रथमस्फुरणं भवति। चैतन्यात् शक्तिः यदा विच्छिन्ना न भवति, तदा तां मिलिताशक्तिं महातत्त्वम् इतीर्यते। ईश्वर इति नाम्नाऽपि महातत्त्वं प्रसिद्ध्यति। ईश्वरः सगुणत्वेऽपि वस्तुतः गुणातीतः स्यात्। ईश्वरस्वरूपनिर्णये ग्रन्थेऽस्मिनुच्यते यथा- *ईश्वर इति नाम्नाऽपि महातत्त्वं प्रसिद्ध्यति। ईश्वरः सगुणत्वेऽपि गुणातीतस्तु वस्तुतः।।*

*ब्रह्मस्वरुपचिन्ता हि गुणसर्जनकारिणी। ईश्वरः परिणामोऽस्ति गुणाकरविकारजः।।*[१९]

ईशोपनिषदि ईश्वरस्वरूपं यथा- *सपर्यगाच्छुक्रमकायव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।*

*कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातप्ततोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।*[२०]

ब्रह्मणः स्वरूपचिन्ता हि गुणसर्जनकारिणी भवति। ईश्वरः गुणाकरविकारजः परिणामोऽस्ति। महातत्त्वं यदा सृष्टिसर्जनतत्परं विद्यते, तदा ईश्वरः पुरुषत्वं प्रकृतित्वञ्च भवति। आद्यास्थितेः इमं तत्त्वं महातत्त्वं प्रचक्षते। महातत्त्वात् विश्वसंरचनातत्त्वमुपजायते। ईश्वरः गुणयुक्तोऽपि क्रियाहीनः वर्त्तते। सः स्वीयान् गुणान् स्वयं पुनः स्वस्मिन् समादधाति। तस्मात् ईश्वरात् प्रकृतिः या खलु महाशक्तिः जायते। पुरुषः शिवो वा तस्याः चैतन्यशक्तिः भवति। तदुक्तम्- *महातत्त्वं यदा तावत् सृष्टिसर्जनतत्परम्। ईश्वरः पुरुषत्वञ्च प्रकृतित्वं श्रितस्तदा।।*

*स्थितिराद्यादिमं तत्त्वं महातत्त्वं प्रचक्षते। विश्वसंरचनातत्त्वं महातत्त्वादजायत।।*

*ईश्वरो गुणयुक्तोऽपि क्रीयाहीनस्तु वर्तते। समादधाति स स्वीयान् गुणान् स्वस्मिन् स्वयं पुनः।।*

*ईश्वरात् प्रकृतिर्जाता महाशक्तिश्च या मता। यस्याश्चैतन्यशक्तिस्तु शिवो वा पुरुषोऽथवा।।* [२१]

**विश्वतत्त्वम्-** अण्डकात् उत्थित ॐकारनादः नालस्वरूपं विदधाति। तस्मादुर्ध्वं पद्माकृतिस्वयं ब्रह्मा प्रकटितो भवति। अण्डकस्य नाभिः विष्णोः शक्तिस्थलम्। तस्मात् ब्रह्मा अविभूतः, ततः संसारसम्भवशक्तिः निर्गता। अतएव लोकेऽस्मिन् विष्णुः पद्मनाभेति प्रसिध्यति। तदुक्तं यथा- *विस्फोटनेन तत्तत्त्वं पद्माकारमजायत। तस्मात् पद्मप्रतीकत्वं ब्रह्मणः प्रथितं मतम्।।*

*ब्रह्मेच्छया ततः सृष्टेर्ब्रह्मणा रचना कृता। प्रकटितस्वरूपेण ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् परम्।।*

*पद्माकारेण सम्भूतो ब्रह्मा विष्णोश्च नाभितः। पद्मनाभेति लोकेऽस्मिन् विष्णुः प्रतीकतस्ततः।।*[२२]

अतएव हिरण्यगर्भमध्ये अनन्तपुरुषः स्थित्वा सृष्टेः कारणं ब्रह्मारूपकमजनयत्। हिरण्याण्डकात् ब्रह्मा जनिं लब्ध्वा महाशून्यं व्याप्य तत्र महाशून्यस्य गर्भे आकाशः समजायत। शून्ये अगणितानि विश्वानि दोलितानि स्थितानि। आदौ शून्यब्रह्मणः स्पन्दने जाग्रति तरङ्गाः चक्राकारतया शून्ये व्याप्नुवन्ति, शून्यस्य सीमानं प्रति गच्छन्ति च। सीमायाः परं इदं महत् विश्वं निर्मीयते। अक्षयपुरुषेण आद्याशक्तिः, कालशक्तिश्च एकत्र बिन्दौ मिलितौ। तिसृणां शक्तीनां कर्म यद्यपि पृथक पृथक् विद्यते, तथापि तिसृणां शक्तीनां मेलनात् जगत् सृज्यते। त्रिशक्तिभ्यः ज्यौतिर्नारायणो जायते। तत्तत्त्वं तु निरञ्जनतत्त्वम्, तस्मात् एव महाविश्वस्य सृष्टिः उपजायते। ब्रह्मणः अंशात् भुवि सकलाः जीवाः जाताः। दिवसेषु रवेः अंशुः यावान् भूतले पतति, वैश्वानरस्य शक्तिः तं सकलं गृह्णाति। सूर्यालोकेन साकं जीववीजं समीयते। धरातले तद् अवचैतन्यसंसृष्टिं करोति। वैश्वानरस्य शक्तिः भूतले प्राणानामग्निना सार्धं जैविकानां मिश्रणं करोति। तत्र शब्दकल्पद्रुमे, यथा-

*विश्वान् नरान् इतो लोकात् लोकान्तरं नयति। इदमर्थेन विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्पद्यन्ते वा कर्मार्थप्रणेतृत्वेन सम्पादिनोऽस्य वैश्वानरः।* [२३]

पुनश्च प्रश्नोपनिषदि यथा- *स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्।।*[२४]

वैश्वानराग्निना सर्वं जगत् परिचाल्यते। युगे महायुगे मन्वन्तरे कल्पके च विश्वमहायज्ञः उत्सव इव परिचालितः। विश्वयज्ञेऽस्मिन् तत्कालिकाग्निप्रकोपतः जीवाः, नराः, देवाः च सर्वे ते दग्धीभूय भस्मीभूताः भवन्ति। सृष्टिकामो ब्रह्म यदा विस्तृत अभवत्, तदा शिवतत्त्वात् शक्तिः पृथग् अभूत्। यदा तु इह ब्रह्माण्डे पूर्णो प्रलयः जायते, तदा शिवतत्त्वे शक्तिः तिरोहिता भवेत्। वस्तुतः अनन्तपुरुषः सः ब्रह्म पूर्णब्रह्म, समग्रं विश्वं तस्यांशमात्रं भवति। तदुक्तं ग्रन्थेऽस्मिन् यथा- *हे शून्यपुरुष ब्रह्मन् शून्यातीत महाप्रभो। विश्वं तवांशमात्रं तु पूर्णब्रह्म त्वमेव हि।।*[२५]

**महाशक्तितत्त्वम्-** सृष्टेः सकला शक्ति ब्रह्मणः अधीने तिष्ठति। ताभ्यः द्वे प्रधाने महाशक्ती ब्रह्मणः अन्तरङ्गायां स्वरूपशक्तिः, बहिरङ्गायां मायाशक्तिश्च विद्येते। अन्तरङ्गायां विद्यमाना स्वरूपशक्तिः ब्रह्मणः आनन्दांशः भक्तिमार्गस्य साधनं भवति। ब्रह्मणः स्वरूपशक्तेः लीला रूपत्रयेण विद्यते। सन्धिनी, सम्वित्, ह्लादिनी चेति। सन्धिनीशक्तेः कारणात् ब्रह्मणः विश्रामो भवति। सम्विच्छक्तेः कारणात् भगवज्ज्ञानं सम्भवति। ह्लादिनीशक्तेः कारणात् आह्लादको भावो जायते। आह्लादको भावः आनन्देन सह मधुरभक्तिः उद्गम्यते। विशुद्धानन्दः ह्लादिनीशक्तेः गुण एवोच्यते। अतएव आनन्दः भक्तेः मूला शक्तिः। ब्रह्मणः स्वरूपशक्तिः यतो हि आनन्दः कथ्यते,

जीवात्मनः मूलेच्छा ततो आनन्द एव अस्ति। अतएव भक्ताः तस्मिन् आनन्दे मार्गे गच्छन्ति। आनन्दप्रगतिः तावत् आध्यात्मिकी गतिः भवति। जीवः स्वजीवने यावत् ब्रह्मानन्दं न लभते, तावत् सः जन्मजन्मान्तरेष्वपि नित्यं यतते।

ब्रह्मणः बहिरङ्गायां विद्यमाना मायाशक्तिः ब्रह्मणः चिदंशः ज्ञानमार्गस्य साधनं भवति। अनेकमतवादेषु बहिरङ्गा पृथक् पृथक् स्वीक्रियते। एषा मायाशक्तिः सांख्यदर्शने प्रकृतिः, वेदान्तदर्शने माया, पुराणेषु माता, देवी, शक्तिः प्रकृतिर्वा, अहंतत्त्वं, महाशक्तिः मूलप्रकृतिर्वा इति। सा एषा प्रकृतिः ब्रह्मचैतन्ये आश्रिता, ब्रह्मचैतन्यं विना जडतां प्रतिपाद्यते। ब्रह्मणः इच्छया एषा प्रकृतिः विजायते। ब्रह्म सर्वदा साक्षिभावेन निर्लिप्तं भवति। तस्मात् एषा प्रकृति जडाप्रकृतिः उच्यते। चैतन्यमनाश्रित्य तस्याः गतिः न विद्यते।

ब्रह्मणः अंशावृतायाः मायाशक्तेः गुणम् अविद्या भवति। अविद्याहेतोः जीवः बन्धनं लभते। अविद्यां ज्ञानमिति मत्वा जीवः मोहेन आविष्टः सन् आत्मज्ञानं विस्मृत्य संसारकष्टमनुभवति। ब्रह्मणः आपेक्षिकी शक्तिः ईश्वरः, ईश्वरस्य आपेक्षिकी शक्तिः नरः इत्युच्यते। मायाच्छन्न ईश्वरः विमोहितः सन् निजस्वरूपं स्पष्टेन द्रष्टुं न शक्नोति। यतो हि मायाशक्तेः गुणेन ब्रह्म आवृतो भवति, ततः इयं माया सर्वान् आवृणोति। तदुक्तं ग्रन्थेऽस्मिन्- *अविद्या ब्रह्मणो मायागुणोऽंशावृत एव च। अविद्याकारणाज्जीवो बन्धनं लभतेऽखिलम्।।*

*आपेक्षिकी स्थितिर्नाम ब्रह्मणः ईश्वरः स्मृतः। ईश्वरस्य स्थितिः सैव नरो हि कथितः परम्।।*

*मोहाविष्टस्थितौ तावन्मायाच्छन्नः स ईश्वरः। स्पष्टं न शक्नोति द्रष्टुं स्वीयं स्वरूपमेव तु।।*

*ब्रह्मावरणमेवास्ति मायायाश्च गुणो यतः। तस्मादेव महामाया तमावृणोति तं प्रभुम्।।*

*अविद्या ज्ञानमित्येव मत्वा जीवो विमोहितः। आत्मज्ञानं स विस्मृत्य भुङ्क्ते संसारयातनाम्।।*[२६]

**प्रकृतितत्त्वम्-** ज्यौतिर्निरञ्जनात् प्रकृतिः जायते। विश्वेऽस्मिन् प्रकृतेः पञ्चविंशतिशक्तयः सन्ति। तदुक्तं यथा-

*ज्यौतिर्निरञ्जनात्तावज्जायते प्रकृतिः परा। प्रकृतेः सन्ति विश्वऽस्मिन् पञ्चविंशतिशक्तयः।।*[२७]

अत्र प्रकृतेः पञ्चविंशतिशक्तयः सांख्यदर्शनानुसारं पञ्चविंशतितत्त्वानि, यथा-

*मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।*[२८]

प्रकरोति संसारं रचयति, इति प्रकृतिः, मूलश्चसौ प्रकृतिः मूलप्रकृतिः, अर्थात् संसारस्य मूलकारणमित्यर्थः। प्रकृतेः अविकृतिः विकारशून्या वा नास्ति। प्रकृतिः नाम कारणम्, विकृतिः नाम कार्यम्, महत् आद्यं येषां ते, महदाद्याः। महदाद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयः अर्थात् कार्यकारणयोर्भावात् वुद्धिः, अहङ्कारः, रूपं, रसः, गन्धः, स्पर्शः, शब्दश्चेति सप्त प्रकृतिविकृतयः। सोडषकस्तु विकारः नाम शोडषसंख्यकाः कार्यभूतपदार्थाः। यथा-श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राणं चेति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्, पाणिः, पादः, पायु, उपस्थं चेति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पृथिवी, जलं, अग्निः, वायु, आकाशश्चेति पञ्च महाभूतानि, मनश्चेति । पुरुषः, यस्य खलु प्रकृतिः नास्ति, विकृतिरपि च नास्ति। अर्थात् पृथिवी, जलं, अग्निः, वायु, आकाशः, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राणं, वाक्, पाणिः, पादः, पायु, उपस्थं, रूपं, रसः, गन्धः, स्पर्शः, शब्दः, मनः, वुद्धिः, अहङ्कारः, प्रकृतिः, पुरुषश्चेति पञ्चविंशति तत्त्वानि। ब्रह्म निजस्वरूपतः स्वयं सम्पूर्ण एव। यद्यपि सः प्रकृतिं निर्माति, तथापि तस्याः उर्ध्वे न तिष्ठति। ब्रह्म अहङ्कारकारणात् प्रकृतिः जागर्त्ति। अपि च प्रकृतेः सा शक्तिः चराचरं विश्वं निर्माति। महातत्त्वात् अहंतत्त्वं जायते, तस्मात् अहंतत्त्वात् आकाश्योत्पत्तिर्भवति। आकाशात् वायुतत्त्वं, वायुतत्त्वात् अग्नितत्त्वं, अग्नितत्त्वात् जलं, जलात् स्थूलं, ततः परं सृष्टेः सकला शक्तिः ब्रह्मणः अधीने स्थिता। तदुक्तं ग्रन्थेऽस्मिन् -*अहंतत्त्वं महातत्त्वाज्जायते क्रमातः परम्। तस्मादेवाहमस्तत्वादाकाशस्य च सम्भवः।।*[२९]

*आकाशाद्वायुतत्त्वं च जातमग्निस्ततोऽपि च।अग्नितत्त्वाज्जलं जातं जलात् स्थूलं ततः परम्।।*[३०]

अहङ्कारस्य कारणात् ब्रह्म अनेकधा भूत्वा स्वेच्छया अरूपोऽयं ब्रह्म सरूपत्वं गच्छति। सृष्टिक्रमविषये वेदान्तदर्शने उच्यते यत्-

*तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्य पृथिवी चोत्पद्यते।*[31]

**गुणतत्त्वम्-** महातत्त्वात् प्रकृतिशक्तिः जनित्वा सत्त्वं, रजः, तमश्चेति त्रिगुणै विभाज्यते। महातत्त्वे गुणत्रयस्य समानपरिमाणत्वात् सत्त्वं, रजः, तमश्चेति नामतः प्रथितम्। मूलप्रकृतिमध्ये गुत्रस्यैकस्य यदि क्वचित् न्यूनत्वेन अधिकत्वेन वा विद्यते, तर्हि तत्र सृष्टिसंरञ्चना विजायते। सांख्यदर्शनानुसारमत्र वर्ण्यते यत् गुणत्रयस्य साम्ये तु सृष्टिः नैव विरच्यते। तदुक्तं सृष्टितत्त्वानुचिन्तने यथा-

*गुणत्रयस्यसाम्ये तु सृष्टिर्नैव विरच्यते। असाम्यं हि जगत्सृष्टेः कारणमुच्यते परम्।।*[32]

पुनः- *गुणत्रयस्य वैषम्याद् विश्वमिदं प्रजायते। तस्मादेवापि विश्वस्य सर्वद्रव्यसमुद्भवः।।*[33]

उक्तञ्च सांख्यकारिकायाम्- *गुणपरिणामविशेषान्नात्व* [34]

गुणस्यैकस्य कस्यापि प्रावल्यात् अहंतत्त्वं सृजति, यत् खलु स्वयमहं तु सम्पूर्णो इति अर्थो उद्गम्यते। गुणत्रयस्य साम्ये तु इदंतत्त्वं जायते, यत खलु समेषां सहैकप्राणता अर्थो भवति। यदा रजोगुणं द्रव्यं प्रबलं भवति, तदा प्रकृतिः विक्षुब्धा भवति। रजोगुणः साम्ये असाम्यं करोति, गुणत्रये तु असन्तुलनं जायते। रजोगुणः तामसं सत्त्वगुणात् पृथक्कृत्य चराचरं विश्वं रचयति। तमसा सह सत्त्वगुणस्य यः प्रभेदः अस्ति, सः प्रभेदः ऋणात्मकेन धनात्मकस्य च विज्ञायते। सत्वगुणस्य स्वरूपो लघुः आलोकमयः, तमगुणस्य गुरुत्वधर्मी आच्छादकस्वरूपः, रजगुणस्तु उत्तेजनाकारकः। तदुक्तम्- *सत्त्वं प्रकाशकं तत्त्वं लघु च परीकीर्त्तितम्। तमस्त्वाच्छादकं प्रोक्तं गुरुधर्मि तथैव च।।*

*रजश्चलं सदैवास्ति तदुत्तेजनकारकम्।*[35]

सांख्यकारिकायां यथा- *सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।*[36]

एवमेव काव्यशैल्याऽनूदिते ग्रन्थेऽस्मिन् सृष्टितत्त्वस्य नानारहस्यानां वर्णनासु साध्यपक्षत्वेन ब्रह्मतत्त्वं, महातत्त्वं, बुद्धितत्त्वं, विश्वतत्त्वं, प्राणतत्त्वं, प्रकृतितत्त्वं, गुणतत्त्वं, महाशक्तितत्त्वं, गुरुतत्त्वं, पुनः साधनपक्षत्वेन गुरुतत्त्वस्य माध्यमेन ज्ञानमार्गः, कर्ममार्गः, भक्तिमार्गश्चेति दार्शनिकतत्त्वानि प्रतिपाद्यन्ते।

कृष्णप्रियादेवीमहिलामहाविद्यालयः, दशपल्ला, नयागड।

पादटिप्पणी-

१.बृहदारण्यकोपनिषद्-२/४/५। २.सांख्यप्रवचनभाष्यम्- पृ.३। ३.सर्वलक्षणसंग्रहः-पृ.६३। ४.तत्रैव-पृ.६३। ५.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-३/१,२। ६.तत्रैव-३/७। ७.तत्रैव-३/६। ८.तत्रैव-१/१,२। ९.तैत्तरीयोपनिषद्-२.१.१.६। १०.ऋग्वेदः-नाशदीयसूक्तम्-१०/१२९/१-३। ११.श्रीमद्भागवतम्-८/३/५। १२.अग्निपुराणम्.(पूर्वभागः)-१७/२। १३.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२/२,३। १४.ऋग्वेदः-हिरण्यगर्भसूक्तम्-१०/१२१/१। १५.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२/१३। १६.तत्र-२/९२। १७.मैत्र्युपनिषद्-५/१५। १८.सांख्यदर्शनम्-पृ.३८। १९.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२०/६,७। २०.ईशोपनिषद्-मन्त्रम्-८। २१.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२०/८-१०। २२.तत्रैव-५/९-११। २३.शब्दकल्पद्रुमः-६/३/१३७। २४.प्रश्नोपनिषद्-१/५। २५.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-३४/१२३। २६.तत्रैव-२०/६५-६९। २७.तत्रैव-३/८९। २८.सांख्यकारिका-श्लो.३। २९.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२०/२३। ३०.तत्रैव-२०/४४। ३१.वेदान्तसारः-१६। ३२.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-२०/७। ३३.तत्रैव -७/१३। ३४.सांख्यकारिका-२७। ३५.सृष्टितत्त्वानुचिन्तनम्-७/१७,१८। ३६.सांख्यकारिका-श्लो.१३।

# अञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः

डॉ.राधावल्लभशर्मा,
सहायकाचार्यः, साहित्यविभागे,
हरियाणासंस्कृतविद्यापीठम्(नवदेहलीस्थकेन्द्रीय-
संस्कृतविश्वविद्यालयेन सम्बद्धम्)बघौला, पलवलम्, हरियाणा
ई-मेल-drrvshastri@gmail.com
Ph. no.-9805072781

शब्दार्थयोर्भवति कश्चन विशिष्टः सम्बन्ध इति सर्वमान्योऽयं राद्धान्तः। परञ्चायं सम्बन्धः कीदृश इति विचारणायां नैके सम्बन्धा लोचनगोचरा भवन्ति। यथा-औत्पत्तिकः सम्बन्धः स्वाभाविकः सम्बन्धः, साङ्केतिकः सम्बन्धः कृत्रिमः सम्बन्धश्चेति। शब्दार्थयोः औत्पत्तिकः सम्बन्धो भवतीत्युच्चार्यमाणे सति मीमांसाशास्त्रमेवास्माकं शरणस्थली। मीमांसासूत्रकारेण महर्षिणा जैमिनिनावादि- **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः**[1] अर्थात् शब्दार्थयोः नित्यः सम्बन्धः। न्यायशास्त्रानुगुणस्सम्बन्धः साङ्केतिकः सम्बन्धः शब्दार्थयोः। समयेन सङ्केतेन वाऽयं सम्बन्धो ग्राह्यो वर्तते। भण्यते तत्र- **न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य**[2] अनेन न्यायदर्शनसूत्रेणेदं प्रमाणीभवति यच्छब्दादर्थबोधः सामयिकत्वाद् जायते। सामयिको भवति अभिधानाभिधेयनियमनियोग इति। **अभिधानाभिधेयनियमनियोगोऽयं गोशब्दस्य सास्नादिमाने वार्थे एवमश्वशब्दवाच्यशब्दस्य केसरादिभाने वेति। तस्मिन्निमित्तयोगो बोद्धव्य इति भगवतः परमेश्वरस्य सर्गादौ सोऽयं समय इति**[3]। अतः सङ्केत एव शक्तिः अथवा ईश्वरेच्छा एव शक्तिरिति परिभाषा समागता न्यायशास्त्रानुकूला। **शक्तिर्नाम अभिधा सङ्केतश्च ईश्वरेच्छेति।**

व्याकरणनये शक्तिः सङ्केतो नास्ति प्रत्युत सङ्केतग्राह्या शक्तिरिति। अभाणि भट्टनागेशेन व्याकरणचणेन—

**उक्त ईश्वरसङ्केत एव शक्तिरिति नैयायिकमतं न युक्तम्। अयमेतच्छब्दोऽत्रास्य शक्तिः इत्यस्य सङ्केतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात्**[4]। शब्दशक्तिरित्यत्र शक्तिशक्तिमद्भावः सम्बन्धः। शब्दो वर्तते शक्तिमान् शक्तिश्च वर्तते अभिधादयः शक्तयः। अत एव लक्षयामास वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिः —

**यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।**

**तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता॥**[5]

**अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते।**

**एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ॥**[6]

वैयाकरणशिरोमणिना भर्तृहरिणा शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वमवादि—

**नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।**

**सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥**[7]

महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वमेवं व्याख्यायि- **यल्लोकेऽर्थसमुदायशब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निर्वत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्याभावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह- कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तावत् शब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह- कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते।**[8]

शब्दस्य तिस्रः शक्तयः। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना चेति। अत्र व्यञ्जनामधिकृत्य किञ्चित् प्रस्तूयते—व्यञ्जना भवति अवगमनशक्तिः। अयं हि व्यञ्जनाव्यापारो ध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यैरव-श्यमवगन्तव्यः। लोचनकारेण स्पष्टं प्रत्यपादि—

**तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः** अर्थविषयकः प्रबलसंस्कारविशेषो व्यञ्जना। अस्य संस्कारस्य हेतुः प्रतिभा एवेति।

साहित्यसारे पण्डितप्रवरेणाच्युतरायेण व्यञ्जनाविषयमधिकृत्य स्पष्टमित्थं निरदेशि—

**अशक्यालक्ष्यसम्बोधादमन्दानन्ददायिनी।**

**दृशोश्चुम्बनतः किं न व्यञ्जना रञ्जनं जनाः॥**

**ततो निमित्तादिभिदा सिद्धा दृष्टिद्वयेतरा।**

**धीरैकगम्या वदने व्यञ्जना च स्मितद्युतिः॥**

**पदं वाक्यं पदार्थश्च वाक्यार्थो धातुरप्यथ।**

**सुप् तिङ् च प्रातिपदिकं कालो वचनमेव च॥**

**अपि पूर्वनिपातश्च विभक्तिः कापि तद्धितः।**

**निपाताश्चादयः प्राद्या उपसर्गास्तथैव च॥**

**सर्वनामाव्ययीभाव इमनिच् प्रत्ययस्तथा।**

**आधारः कर्मभूताख्यो वर्णाश्च रचनास्तथा॥**

**प्रबन्धाश्च कविप्रौढोक्ती रसो वस्त्वलङ्कृतिः।**

**सङ्करश्चापि संसृष्टिरिति दिग् दृक्स्थलेऽस्ति सा॥** [9]

अर्थात् शक्यलक्ष्यभिन्नार्थबोधहेतुभूतसहृदयह्लादिका वृत्तिर्व्यञ्जनेति। भट्टनागेशेन व्यञ्जनायाः स्वरूपमित्थं प्राकाशि— **मुख्यार्थबाधाग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धार्थाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जनेति।** संस्काररूपा व्यञ्जना भवतीति लक्षणफलितार्थः।

अलङ्कारमहोदधौ व्यञ्जनास्वरूपमित्थं निरूपयाञ्चक्रे जैनाचार्यो नरेन्द्रप्रभसूरिः—

**तेन व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते शब्दगोचरम्।**

**विदग्धत्वं कवीन्द्राणां यस्मिन् परिसमाप्यते॥** [10]

व्यञ्जनव्यापारभूषिता हि भारती कवीनां महन्माहात्म्यमुन्मुद्रयति। व्यञ्जनयानयातिशयशब्दं प्रत्याययति। अनेन हेतुना शब्दाश्रयं न केवलमभिधोपचारवैचित्र्यं व्यञ्जनवैचित्र्यमपि भवतीति प्रतीयते। अस्मिन् व्यञ्जनवैचित्र्ये कवीन्द्राणां नैपुणी परां काष्ठामधिरोहतीति कारिकायाः फलितार्थः।

अस्या व्यञ्जनायास्तावद् द्वौ भेदौ स्तः सामान्येन—

1.अभिधामूला 2.लक्षणामूला चेति।

शाब्दीव्यञ्जनाया निरूपणानन्तरं विस्तरेण व्यञ्जनायाः स्वरूपमत्र प्राकाशि नरेन्द्रप्रभसूरिणा जैनदेशिकेन्द्रेण।

अभिधातात्पर्यलक्षणाशक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः।

काव्यप्रकाशस्य टीकाकारेण विदुषा श्रीमन्वामनाचार्येण व्यञ्जनालक्षणमेवं न्यरूपि-**व्यञ्जना च शक्तिलक्षणादिजन्यप्रतीतिजनकः पदादिगतो व्यापारः**। व्यञ्जनैषा वाच्यादत्यन्तं भिन्नमप्यर्थमवगमयति। **गतोऽस्तमर्कः** इत्यत्र अर्थः प्राधान्येन व्यञ्जकः शब्दस्तत्र सहकारी भवति अत अस्या अर्थशक्तिर्मूल-व्यञ्जनेति प्रसिद्धिः। **उच्चरद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः** इत्यत्र कीलाल वाहिनीपतिशब्दयोः शक्त्या अर्थद्वयप्रतीतिर्भवति। अत्र शब्दः प्राधान्येन व्यञ्जकः। अर्थस्तु तत्सहकारीति शब्दशक्तिमूलत्वमिह द्योत्यते। अभिधादिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा विश्रान्तासु ययार्थान्तरस्य प्रतीतिः सा व्यञ्जना। **तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः** इति रीत्या व्यङ्ग्यप्रकाशनानुकूलशब्दव्यापारो व्यञ्जनेति। इयं व्यञ्जनार्थसा-मर्थ्याक्षिप्ता भवति। अर्थश्च वाच्यो लक्ष्यश्च। तयोर्मूलमभिधालक्षणे। अतस्तावद् व्यञ्जनाऽपि अभिधा-मूला लक्षणामूला च। इयमभिधामूला शाब्दी आर्थी इति भेदद्वयेन विभक्ता भवति। अलङ्कारमहोदधौ लक्षणमस्या इत्थं बभाषे नरेन्द्रप्रभसूरिः—

**वस्त्वलङ्कारयोर्मुख्यशब्दतो व्यञ्जनाद् ध्वनिः।**

**शब्दशक्तिभवो द्वेधा चतस्रोऽस्य भिदास्ततः॥**[11]

**या च शब्दादनेकार्थात्संयोगाद्यैर्नियन्त्रितात्।**

**अपरार्थमतिः काचिद् व्यञ्जनादेव सा मता॥**[12]

संयोगादिभिर्नियन्त्रितादप्येकस्मिन्नर्थे स्थापितादप्यनेकार्थात् शब्दाद् या काचिदपरस्यार्थस्य मतिर्बुद्धिर्भवति स नाभिधातस्तस्या नियमितत्वात् नाप्युपचारात् तन्निमित्तानामभावादपि तु व्यञ्जनाव्या-पारादेव। उदाहरणं यथा—

**सं सैन्यसैन्धवोद्धूतैः पांशुभिः पूरयन् दिशः।**

**न सेहे मिहिरस्यापि पृथिव्यां पततः करान्॥**[13]

अत्र मिहिरशब्दप्रत्यासत्तेः किरणेषु नियमितोऽपि करशब्दो दण्डरूपमर्थान्तरं व्यञ्जयन् **एकछत्रां धरित्रीं स भुक्तवान्** इति वस्तु प्रकाशयति। अपरमप्येकमुदाहरणं यथा—

**यदीयोऽसिः कालः प्रतिकरटिसिन्दूररुचिभि**

**र्व्यधात् सन्ध्यां मुक्तास्तदनु किल ताराः समुदगुः।**

**यशः श्वेतज्योतिस्तदथ समभूद् येन जयिना**

**चिरं चक्रे राकारजनिमयमेव त्रिभुवनम्॥**[14]

अत्र काल-तारा-श्वेतज्योतिः शब्दा असि-मुक्ता-यशः शब्दानां सन्निधानात् कृष्णगुण-नैर्मल्य-विशदद्युतित्वेषु नियन्त्रिता अप्येनेहो नक्षत्रशीतांशून् व्यञ्जयन्तस्तैः सार्धमुपमानोपमेयतां ध्वनयन्ति।

आर्थी व्यञ्जनायाः स्वरूपमित्थमुपावर्णि नरेन्द्रप्रभसूरिणा जैनाचार्येण काव्यशास्त्रिणा—

**वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।**

**प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥**

**मुख्योपचरितव्यङ्ग्याः क्वचिदर्थास्त्रयोऽप्यमी।**

**बिभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसम्पदा॥**[15]

मुख्याद्यास्त्रयोऽप्यर्था वैदग्धशालिनां व्यञ्जकत्वं धारयन्ति। इह वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यात् प्रतिभा-शालिनामन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुरर्थस्य वृत्तिव्यञ्जनेति स्वरूपं प्रकाशते इत्थम्—

**नियन्त्रितार्थविषयकज्ञानानुकूलशब्दव्यापारत्वं शाब्दव्यञ्जनात्वम्।**

**वक्त्रादिवैशिष्ट्यहेतुकप्रतिभाशालिनामन्यार्थज्ञानहेतुभूतव्यापारत्वमार्थव्यञ्जनात्वम्।** व्यञ्जनेयं शब्दस्य, अर्थस्य, वर्णस्य, रचनायाः, प्रबन्धस्य वाचकचेष्टादेरपि वृत्तिर्वर्तते। अत एव प्रणिजगाद कविराजो विश्वनाथः—**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम।**[16]

इत्थं शब्दवैचित्र्यस्य रहस्योद्घाटनं ध्वनिवादिभिः समपादि। अस्य मूले एव शाब्दीव्यञ्जनायाः स्वरूपं दृग्गोचरायितं सर्वप्रथमम्। एतदेवाभिलक्ष्य स्वाभिमतमित्थं प्रादर्शि सूरिनरेन्द्रप्रभेण—

**न शब्दवैचित्र्यमिदं विनाऽश्नुते श्रियं कवीनां भणितिर्महत्यपि।**

**मरीचयश्चण्डरुचो हि दर्पणे निपेतिवांसो विकसन्ति नाश्मनि॥**[17]

शब्दवैचित्र्यसाहाय्येनैव काचित्कविता सुन्दरायते। अस्य मूले कविप्रातिभमेव हेतुः। यावद्वा-चकलाक्षणिकशब्दहृदये व्यञ्जकझङ्कारो न भवति तावत्कविता कुतः। सूर्यरश्मयो दर्पणे पतित्वा सहस्रधा विस्तारतां यान्ति पाषाणेषु नैव।

आर्थीव्यञ्जना अर्थवैचित्र्यस्य जननी। अर्थवैचित्र्यकारणादेव कवयो महाकविपदवीमधिरोहन्ती-ति तथ्यपथ्यम्। अलङ्कारमहोदधिकारोऽपि एतदेव स्वीचकार। भण्यते सुस्पष्टम्—

**अक्लिष्टप्रतिभादृष्टः सौकुमार्यमनोरमः।**

**रससंवलितानेकभङ्गीसर्वाङ्गभूषितः॥**

**अयोनिरपरच्छायायोनिर्वा परभागभाक्।**

**स चेतनचमत्कारी धत्तेऽर्थः कविताङ्गताम्॥**[18]

नवनवोन्मेषशालिनीप्रज्ञाविशेषविभावितः सौकुमार्यमनोरमः शृङ्गारादिभिः रसैः संवलिता या विच्छित्तिर्भवति तया समलङ्कृतः अर्थो नवनवां विच्छित्तिमुररीकुर्वन् नैव चारिमाणमारोहतीति फलितार्थः। यतः सुकुमारसंभूतं हि वस्तु सुकुमारमेव भवति। कविविवक्षा सहृदयवैदग्ध्यञ्चैवार्थी-व्यञ्जनाया नियामकौ।

**मीमांसकमतम्—**मीमांसका व्यञ्जनावृत्तिं नाङ्गीकुर्वन्ति। तेषामयमाशयो यद् यो व्यङ्ग्यार्थो भवति स शब्देन प्रकाशते। शब्देन विना व्यङ्ग्यार्थस्यास्य किमप्यन्यद् निमित्तं नोपलभ्यते अतः शब्द एवास्य निमित्तमिति। कारकज्ञापकभेदाभ्यां निमित्तमिदं द्विधा विभज्यते। शब्दोऽयं कारकरूपं निमित्तं तावद् भवितुं न शक्यम् अतो व्यङ्ग्यार्थं प्रति शब्दस्य निमित्तत्वमपि कारकरूपं न भवति प्रत्युत ज्ञापकरूपं बोधकरूपं वा तावद्भवेदिति। शब्दव्यङ्ग्यार्थोरयं निमित्तनैमित्तिकभावो बोध्यबोधकभावश्शक्तिं विना न

सम्भाव्यते। शब्दे अर्थस्य बोधनशक्तिः अभिधेति। अतः शब्दाद्व्यङ्ग्यार्थस्य या प्रतीतिर्ज्ञायते सैव शब्दस्याभिधाव्यापारेणैव जायते अतो व्यञ्जनायाः कल्पनाप्रयासो नूनं व्यर्थायते।

**व्यञ्जनावादिनः खण्डयन्ति मतमिदमित्थम्**—शब्देन या व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्भवति, तया शब्दे तस्य केवलं ज्ञापकत्वनिमित्तमेव भवितुं शक्यते। ज्ञापकत्वनिमित्तमदो तावता न सिद्धिमाप्यते यावता शब्दस्य तेनार्थेन सह सङ्केतग्रहो न स्यात्। अयञ्च सङ्केतः केवलमन्वितमात्रे एव गृह्यते सामान्यतो नैव विशेषे इति भवन्मतोपन्यासः। अतो निमित्तरूपस्य शब्दस्य यावत्प्रतीतस्य व्यङ्ग्यरूपविशेषार्थेन सह निश्चयरूपेण सम्बन्धः सङ्केतग्रहणं वा न भवति तावत्तेन अभिधया नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिः कथं स्यादिति। अतो व्यङ्ग्यार्थबोधाय व्यञ्जनाव्यापारोऽभ्युपेयोऽन्यथा व्यङ्ग्यार्थं प्रति शब्दस्य निमित्तत्वानिश्चयात्कथं प्रतीतिः। अपि च व्यङ्ग्येऽर्थे सङ्केतग्रहे सति शब्दात्तदुपस्थितिः शब्दादुपस्थितौ च सङ्केतग्रह इत्यन्योन्याश्रयदोषदूषितत्वान्नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त इत्यविचारिताभिधानम्।

**पुनरत्र भट्टलोल्लटस्य पूर्वपक्ष उपस्थाप्यते**—

भट्टलोल्लटस्य परममीमांसकस्येदं मतमस्ति यद् यथा केनचिद्बलवता प्रेरितेनैकेनैव इषोः वेगाख्येन व्यापारेण रिपोर्वर्मच्छेदं करोति, तदनु च मर्मच्छेदं करोति अन्ते प्राणान् हरति तथैव सकृदेवोच्चारितः शब्द एकेनैव व्यापारेणाभिधाख्येन पदार्थोपस्थितिमन्वयबोधं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च जनयति। एतदर्थं शब्दस्य पृथक् पृथक् शक्तिस्वीकरणे किमत्र निमित्तमिति।

**व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरभिधया भवितुं शक्या** इत्यस्मिन् विचारे स्वाभिप्रायं प्रकटयता भट्टलोल्लट इत्थं प्राह— **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** इत्यनेन यमार्थं बोधयितुं यः शब्दः कोऽपि प्रयुङ्क्ते स एव तस्य शब्दस्यार्थो भवतीति सिद्धान्तः। अतो यत्र केवलं वाच्यार्थमभिलक्ष्यैव शब्दस्य प्रयोगो विहितो वर्तते तत्र तावानेव तस्यार्थः। एवञ्च यत्र वाच्यार्थमतिरिच्य लक्ष्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य वा बोधनाय शब्दस्य प्रयोगः क्रियमाणो वर्तते तत्र स एवान्यार्थः तस्य शब्दस्य वाच्यार्थो भवितेति पद्धतिः। इत्थं सर्वेऽप्यर्था अभिधया ज्ञातुं शक्याः। अतः कस्याप्यर्थस्य बोधनाय व्यञ्जनाया आवश्यकता नास्तीति पूर्वपक्षः।

व्यञ्जनावादिनो दूषयन्ति मतमिदमित्थम्—**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** अस्य योऽर्थः मीमांसकेन भट्टलोल्लटेनोपस्थापितः स साधुतां न भजते। अत्राभिप्रायो यद् **वाक्यान्तर्वर्तिपदेभ्यः अर्थेषूपस्थितेषु यावदर्थस्य प्रमाणान्तराप्राप्तत्वं तस्य विधेयत्वं तत्रैव च तद्वाक्यस्य च तात्पर्यमिति।** तत्र पुनः क्वचिदेकार्थस्य विधेयत्वं क्वचिद् द्वयोः क्वचित्तु त्र्यादीनाम्। यथा—**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः** इत्यत्र होमक्रियायाः विधानामभिप्रेतमस्ति। **दध्ना जुहोति** इत्यस्मिन् होमपूर्ववाक्यसम्भवकारणात् केवलं दधिरूपस्य साधनद्रव्यस्य विधानम् अभिप्रेतं वर्तते। **सोमेन यजेत** इत्यत्र सोमयागाभ्यां द्वाभ्यामप्राप्तत्वे सत्युभाभ्यामपि विधानमिष्टं भवति। **लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति** इत्यत्रापि लोहितत्वस्य विधानमेवाभीष्टमिति।

वैदिकविधिवाक्येषु यत्र यावानंशः प्रमाणान्तरेणाप्राप्तव्यं भवति तत्र तावानेवांशो विधीयते। यथा— अग्निः दग्धं न दहति प्रत्युतादग्धमेव दहति। प्राप्तस्य प्रापणं, ज्ञातस्य ज्ञापनं वा एभिर्विधि-वाक्यैर्न भवति प्रत्युत अप्राप्तस्य विधानमेव कुरुते।

**तस्मादिदमुच्यते**— उपात्तशब्दोपस्थापितेष्वर्थेषु यदंशे विधेयत्वं तदंशे वाक्यतात्पर्यम्, यत्र तात्पर्यं स शब्दार्थस्तदंश एव शब्दस्याज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यमिति। न तु यत्तात्पर्यकतया शब्दः प्रयुज्यते स शब्दार्थ इति। एवं सति तात्पर्यस्यानियतत्वात् शक्तेरप्यनियतत्वापत्तेः। न च विधेयत्वं प्रवर्तनारूपविधिविषयत्वमिति। **भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते** इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति इति सिद्धान्तेनानेन कारकक्रिययोः समभिव्याहारे कारकपदार्थाः प्रधानक्रियासम्पादकस्वक्रियासम्बन्धाः साध्या इव भवन्तीति तात्पर्यार्थः। अत एव विधिनिषेधयोः प्रधानत्वादपि विधिवाक्येषु सिद्धपदार्थस्य कथने सत्यपि क्रियारूपस्य विध्यंशस्यैव प्राधान्यं भवतीति।

वस्तुतो द्रव्यपदार्थः सिद्धपदार्थ इत्यभिधानेन ख्यातः परं कुत्रचिद् स्थलेष्वायं साध्यवद्भवति। द्रव्यस्येदं साध्यत्वं गौणसाध्यत्वमेव नान्यत्। **घटमानय** इत्यत्र आनयनक्रियायाः समीपदेशसंयोगार्थो गृह्यते। आनयनक्रियाया अस्या हेतुभूता वर्तते घटस्य स्पन्दक्रिया। अनया दृष्ट्या घटो भवति

साध्यरूपः। यदा भवति घटस्यानयनं तदा तत्रादौ **तावद् नोदनादभिघाताद्वा कर्मोत्पद्यते** नयेनानेन घटे कर्म जायमानं भवति। तेन कर्मणा विभागे विभागेन च पूर्वदेशसंयोगो विनाशावस्थायां सम्प्राप्योत्तरदेशसंयोगो भवति। घटेऽस्मिन् विभागोत्पादकं कर्म एव अप्रधानक्रियाभिधानेन प्रथितं भवति। अयमेव स्पन्द नाम्ना उच्यते। घटो यद्यपि स्वरूपतः सिद्धो भवति. परन्तु स्पन्दाश्रयत्वेन पूर्णसिद्धो नास्ति। अस्यायं निष्कर्षो यद् वाक्ये उपात्तस्य कस्यचित् शब्दस्यार्थे एव वाक्यस्यान्यपदानां तात्पर्यं भवति। शब्दतः अनुपात्तार्थे तात्पर्यं न भवति। व्यङ्ग्यार्थस्य वाचकभूतस्य कस्यचित् शब्दस्य वाक्ये उपात्तो न भवति।

उच्यते काव्यप्रकाशे— **ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्यपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे।**[19]

अत्र शङ्कते — यदि वाक्यान्तर्गतोपात्तशब्दानामर्थे एव वाक्यस्य तात्पर्यं तदा **विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः** अस्मिन्वाक्ये एतद् गृहे न भोक्तव्यम् इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते परन्तु तस्यार्थस्य वाचकः कश्चित् शब्दो वाक्ये उपात्तो नास्ति तर्हि कथमुच्यते इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं भवतीति?

अस्येदं समाधानम्— **विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था** इत्यत्र वाक्यद्वयं वर्तते। प्रथमं तावद् विषं भक्षय द्वितीयञ्च मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः इति। अत्र विषं भक्षय वाक्यस्यास्य यत्तात्पर्यमस्ति तत् मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः अस्योपात्तशब्दस्यार्थे एव वर्तते। अनुपात्तशब्दस्यार्थे नैव। मा चास्येत्यत्र चकारेण सुहृदुक्तस्य विषं भक्षयेति वाक्यस्य स्वार्थेऽविश्रान्तस्य साकाङ्क्षतया समनन्तरोच्चारितेन मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यनेनैकवाक्यता सूच्यते। अन्यथा **गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्** इति न्यायेन यथा समत्वेनाप्रधानयोः परस्परमसम्बन्ध एवं प्रधानयोरपि समत्वेन परस्परमनन्वयादेकवाक्यता न स्यात्।

**अत्र पूर्वपक्षः—विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः** इत्यत्र **एकतिङ् वाक्यम्** इति न्यायेन भक्षय, भुङ्क्थाः इति क्रियाद्वयघटितस्य वाक्यद्वयस्यैतद्गृहे न भोक्तव्यमित्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्यं न स्यात्। **मा चास्य** इत्यत्र चकारेण उभाभ्यामप्येकवाक्यता न संसूच्यते।

**अत्र सिद्धान्तपक्षः**— विषभक्षणवाक्यस्य स्वयमनुपपन्नार्थत्वादपरवाक्यस्याङ्गभूतत्ववाच्याङ्गाङ्गिभावसम्बन्धाच्चोभाभ्यामपि वाक्याभ्यामेकवाक्यता सिद्ध्यति। एकवाक्यतायां जाते **उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्** नियमस्यास्य सङ्गतिं साफल्यसोपानमधिरोहतीति। इत्थं **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** इत्यनेन यः तात्पर्यनिर्णयो विधीयते स वाक्योपात्तशब्दस्यार्थे एव भवितुं शक्यते। कदाचिदपि वाक्यानुपात्तशब्दस्यार्थे तात्पर्यनिश्चयो नैव शक्यः। व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिस्थले यो व्यङ्ग्यार्थो भवति तस्य वाचकं किञ्चित्पदमपि वाक्ये उपात्तं न भवति अतः स व्यङ्ग्यार्थः तात्पर्यार्थो न, अतोऽयमभिधया उपस्थितो न जायते, अत एतदर्थे व्यञ्जनावृत्तिः परमावश्यकीति व्यञ्जनावादिनामभिप्रायः। अपि च शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं **ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी** इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्? तत्राप्यभिधैव स्यादिति। **न चानन्यलभ्यो हि शब्दार्थः** इति न्यायेनात्र मुखप्रसादमुखमालिन्यादिलिङ्गेन लिङ्गिनो हर्षशोकयोरनुमानात् प्रतीतेरन्यलभ्यत्वात्तत्र नाभिधेति वाच्यम्। प्रतीतिमात्रेऽभिधाकल्पने लक्षणोच्छेदापत्तेः। कस्माच्च लक्षणा? **लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्।** इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्। (काव्यप्रकाशः, पञ्चमोल्लासः)

अस्यायं भावः—मीमांसका भट्टलोल्लटादयो व्यञ्जनां नाङ्गीकुर्वन्ति, परं लक्षणामामनन्ति। बलाबलाधिकरणे श्रुतिलिङ्गादिषट्प्रमाणसमवायेषु पूर्वपूर्वश्च श्रुत्यादेः प्राबल्यं मीमांसकैः व्याख्यायि। यदि शब्दश्रवणानन्तरोपस्थितेषु सर्वेष्वर्थेष्वभिधैव व्यापारस्तदा सर्वेषामर्थानामभिधेयतया समकालोपस्थितत्वादर्थविप्रकर्षाच्च श्रुत्यादिप्रमाणानां प्राबाल्यदौर्बल्ययोः निश्चयो नैव भवितुं शक्यते। तस्मादिदमुच्यते मीमांसादर्शने मीमांसकैः—

**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्**[20]

इत्थं मीमांसकानां मतमपास्तम्।

पुनः नित्यानित्यदोषव्यवस्थापनादपि व्यञ्जनायाः सिद्धिर्भवतीति साहित्यिकानां मतम्। **अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु** इत्यस्मिन् स्थले **चिङ्कु** इत्यनेन शब्देन **स्त्रीगुह्याङ्ग** इत्यस्य

बोधनादश्लीलत्वं दोषो भवति। परञ्चात्रायमर्थः **रुचिं कुरु** इत्युभाभ्यामपि पदाभ्यां नास्ति। अश्लीलार्थो वाच्यत्वेनात्र नाभिव्यज्यते। अभिधां विहाय काचिदपि अर्थबोधिका वृत्तिर्नास्ति। तस्यां स्थितौ असभ्यार्थस्य प्रतीतिर्नैव भवितुं शक्या। अस्यामवस्थायामेवैतादृशाः प्रयोगाः काव्येषु न हेयाः परन्तु सहृदयहृदया एतादृशान् प्रयोगान् असभ्यार्थव्यञ्जकान् स्वीकुर्वन्ति। अत अभिधामतिरिच्य व्यञ्जनाप्यर्थबोधिका शक्तिरिति। नित्यानित्यदोषव्यावस्थापनमपि व्यञ्जनावृत्त्याधीनम्। यदि वाच्यवाचकभावादतिरिक्तं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न स्वीक्रियेत तदा नित्यानित्यदोषव्यवस्थाया वैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात्। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावं पृथक्तया स्वीकृत्य व्यञ्जनावृत्तिद्योत्यभिन्नभिन्नानां रसानामनुकूलप्रतिकूलतया चाधारान्नित्यानित्यदोषव्यवस्था स्यादिति। अतो व्यञ्जना वृत्तिरावश्यकी। यदि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य सत्ता न स्वीक्रियते तर्हि—

**द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।**

**कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥**[21]

अत्र **कपालिनः** इत्यनेन पदेन दारिद्र्यबीभत्सादीनां प्रतीतिर्जायते। **पिनाकी** इत्यनेन शब्देनायं भावः समुदेति। अनेनैव हेतुना शोचनीयता प्रकटीक्रियते। **कपालिनः** इत्यत्र विलक्षणः कश्चिच्चमत्कारोऽत्रानुभूयते। अयं चमत्कारो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावनिष्पन्नः। सहृदयहृदयसंवेद्योऽयं चमत्कारः। अपि च वाच्यार्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूपतामेव भजते अतोऽयं नियतः शाश्वतो वा तिष्ठति। **गतोऽस्तमर्कः** इत्यत्र वाच्योऽर्थः नियतो वर्तते। सूर्यास्त अभूदिति वाच्योऽर्थोऽस्य। परञ्च व्यङ्ग्योऽर्थः पुनः तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। सपत्नं प्रति अवस्कन्दनावसरः, अभिसारिकाविषये अभिसरणमुपक्रम्यताम्, नायिकां प्रति प्राप्तप्रायस्ते प्रेयान्, कर्मकरस्योक्तौ कर्मकरणान्निवर्तामहे, पण्डितान् प्रति सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्, पथिकान् प्रति दूरं मा गाः, गोचारकान् प्रति सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्ताम्, आतपपीडितं प्रति सन्तापोऽधुना नास्ति, वणिजं प्रति विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्, विरहिणीं प्रति अद्यापि नागतः प्रेयान् इत्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र प्रतिभाति।

**वाच्यव्यङ्ग्ययोः भेदकत्वविचारः—**

वाच्योऽर्थः पूर्वं प्रतीयते, व्यङ्ग्योऽर्थः पश्चादिति कालभेदाद्भेदः। वाच्यस्याश्रयो वाचकशब्दः, व्यङ्ग्यस्य च पदपदैकदेशपदार्थवर्णरचनाश्चाश्रया इत्याश्रयभेदात्। वाच्योऽर्थः व्याकरणकोशादिशब्दानुशासनज्ञानेन तज्जन्यबोधकताज्ञानमात्रेणावाबुध्यते, व्यङ्ग्योऽर्थः प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन चावगम्यत इति निमित्तभेदात, वाच्यार्थमात्रज्ञानिन ज्ञातुः बोद्धा इति व्यपदेशः, व्यङ्ग्यार्थज्ञातुः सहृदयविदग्धादिव्यवदेशः इति व्यपदेशभेदात्। प्रतीतिमात्रानुभवजनको वाच्यार्थः, चमत्कारजनको व्यङ्ग्यार्थ इति कार्यभेदात्। एतदेवाभिलक्ष्य समर्थयाञ्चक्रे कविराजो विश्वनाथः—

**बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।**

**आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतोऽव्यङ्ग्यः॥**[22]

यदि वाच्यव्यङ्ग्ययोः भेदो नाभिलष्यते तत्कचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यादिति। तस्मात्प्रोक्तं वर्तते **अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च** इति।

**अस्यायमाशयः**—घटपटयोर्विरुद्धधर्मप्रतीतिर्भवति। यथा घटे घटत्वं पटे च पटत्वं भवतीति। घटकारणं पृथक्, पटकारणञ्चान्यदिति। वस्तुतो वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्।

कुत्रचित्स्थलेषु व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिस्तु भवति परञ्च स तात्पर्यविषयीभूतार्थो न भवति। यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य असुन्दराभिधाने भेदे व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिस्तु भवति परं स व्यङ्ग्यार्थः वाच्यार्थापेक्षया असुन्दरो वर्तते तस्मादास्वादस्य परमा विश्रान्तिः वाच्यार्थे एव भवति न तु व्यङ्ग्यार्थे। एतेषु स्थलेषु व्यङ्ग्यार्थः तात्पर्यविषयीभूतार्थो न। अत अतात्पर्यविषयीभूतार्थस्य प्रतीतये व्यञ्जनावृत्तिरावश्यकीति।

**व्यङ्ग्यार्थस्य लक्षणागम्यताया निषेधः—**

व्यञ्जनायाः सिद्धिः संख्याप्रतीतिकालाश्रयादिभिर्भवति तस्माद् व्यङ्ग्यार्थो वाच्यार्थाद्भिन्नः। एताः सर्वाऽपि विशेषता लक्षणायामपि भवन्ति अतो व्यञ्जनायाः का आवश्यकतेति।

उच्यते प्रकाशे- लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम?

वस्तुतो वाच्यार्थ एकत्वमेव भजते नियतरूपत्वात् परन्तु व्यङ्ग्यार्थः प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते। अतो व्यञ्जना पृथक् वृत्तिः।

अत्र लक्षणावादिनः- लक्ष्यार्थोऽपि नानात्वं भजते। यथा "रामोऽस्मि सर्वं सहे" इत्यत्र "रामः" इत्यस्य पदस्य वाच्यार्थो दाशरथि राम एव। परन्तु लक्षणया अर्थान्तरसङ्क्रमिते सति अत्यन्तदुःख-सहिष्णुत्वधर्मविशिष्टो राम इत्यर्थो बोध्यते पदस्यास्य।

यथा—"रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्" अत्र रामशब्दः "निष्करुणत्वधर्म-विशिष्टो रामः" इत्यर्थमभिव्यनक्ति। रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्" अत्रापि "रामः" इत्यस्य खरदूषणादिनिहन्ता रामः" इत्यर्थो बोध्यते।

लक्ष्यार्थबोधो मुख्यार्थबाधेन विना न सम्भवति परन्तु व्यङ्ग्यार्थः तथाभूतो नास्ति। यथा—

**अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।**
**मा पहिअ! रत्तिअन्धअ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥**
**श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।**
**मा पथिक! रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥**[23]

इत्यादौ नियमसम्बन्धो व्यङ्ग्यः। "शय्यायां मा निमङ्क्षसीति वाच्यस्य शय्यायां निमङ्क्ष्क्षसीति व्यङ्ग्येन सह विरोधसम्बन्धो नियत एव। अत्र हि चलितचारित्रमुद्रा प्रोषितपथिकयुवतिः कश्चिद् युवानं वासरावसाने वसतिं प्रार्थयमानमुद्दिश्योत्पन्नमन्मथव्यथावेशा श्वश्रूसन्निधौ तस्मै शयनस्थानं विविक्तमुपदिश्य निशान्धताध्यारोपेण स्वशयनसंस्पर्शप्रतिषेधमुखेन श्वश्रूशय्यासन्निवेशदेशं दर्शयन्ती रात्रावत्र मदीय एव शयने त्वया निभृतमुपस्थातव्यमिति तैस्तैराकारैः प्रतिषेधमुखेन स्वाभिप्रेतमर्थमस्मै निवेदयते।

द्वितीयो यथा—

**कस्य वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।**

**सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं॥**

**कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।**

**सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥**[24]

इत्यत्र अविनीतत्वरूपवाच्यस्य "अस्या अधर उपपतिना न दृष्टः" इति व्यङ्ग्येन सह न कोऽपि प्रसिद्धः सम्बन्धः। इत्यनियतसम्बन्धः। अत्र काचिद् विदग्धा सखी कामपि कामुकान्तिके परपुरुषपरि-क्षताधरपल्लवामालोक्य तदसहनस्वभावं च तं कामुकमाकलय्य तस्यापरपरिभोगशङ्काकलङ्क-मपाकर्त्तुम-धरक्षतस्यान्यथासिद्धत्वमुपालम्भनिभेन तामाह।

अत्रायं फलितार्थः—"सहस्वेदानीम्" इत्यत्र वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु-अपराधो नास्ती-त्यवेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्याः च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि गृहीतुं न युक्तं प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतद-पह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति।

तृतीयो यथा—

**विपरीअरए लच्छी ब्रह्मं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं।**

**हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ॥**

**विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।**

**हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति॥**[25]

अत्र वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः सम्बद्धसम्बन्धः परम्पराकृतसम्बन्धो वर्तते। इह हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति। साहित्यशास्त्रे व्यञ्जना परमावश्यकी। व्यञ्जनां विना रसास्वादनं व्यर्थायते। चमत्कारोत्पादिका व्यञ्जना सहृदयहृदयता-पहारिका। तस्मादिदमुच्यते केनचित्कविना—

**व्यङ्ग्यप्रधानाभिनवैव भङ्गी मुख्यार्थबाधः परमप्रकर्षः।**

**वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥**[26]

"व्यङ्ग्यप्रिया हि कवयः"। व्यङ्ग्यं विना कविता लावण्यहीना वनितेव। वेदैरपि कविः स्तूयते—

**स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।**

**ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः॥**[27]

अनुमानखण्डनम्—

पूर्वपक्षः— व्यक्तिविवेककारो महिमभट्टोऽनुमाने ध्वनिमन्तर्भावयन् इत्थमुवाच—

वाच्यादसम्बद्धमर्थं तावन्न प्रतीयते, यतः असम्बद्धार्थप्रतीतौ यस्य कस्याप्यर्थस्य प्रतीतिः स्यात्। इत्थं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः सम्बन्धो व्याप्तिं विना नैव भवितुं शक्यः। नियतसम्बन्धश्च व्याप्तिर्भवति। अतो व्याप्तियुक्तत्वात् पक्षसत्त्वाच्च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वत्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं भवति। अतः अनुमाप्यानुमापकभावरूप एवायं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः।

उदाहरणं यथा—

**भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।**

**गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण॥**

**भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।**

**गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥**[28]

गोदावरीतटकुञ्जे वासितेन सिंहेनाद्य स शुनको मारितः। अत्र वाच्यार्थः भ्रम धार्मिक, विधिरूपो वर्तते परं व्यङ्ग्यार्थो निषेधे पर्यवस्यति। इतः कदापि भवता नागन्तव्यं नो चेदद्य सिंहेन या दशा शुनकस्य विहिता वर्तते सा दशा भवतः अपि कदाचित् भवितुं शक्यते। अयं व्यङ्ग्यार्थोऽत्र व्यज्यते। अमुमेव व्यङ्ग्यार्थं नैयायिकशिरोमणिः महिमभट्टः अनुमानजन्यप्रतीतिविषयत्वेनाङ्गीचकार।

अत्र महिमभट्टो व्यतिरेकव्याप्तिमाश्रयते। गोदावरीतटं भवत्सदृशेभ्यो भीरुभ्यो भ्रमणयोग्यं नास्तीति कथमेवात्र सिद्धिहेतुः। पद्येऽस्मिन् भ्रम अर्थात् भ्रमणं कुरु इति विधिरूपं वर्तते एवञ्च गोदा-वरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति संसूचनमपि प्रदत्तम्। धार्मिकस्य भ्रमणं तु तदा तत्र स्याद् यदा भयकारणं तत्र न स्यात् परन्तु तत्र सिंहरूपस्य भयस्य कारणमस्ति। अतोऽत्र साध्याभावो भयकारणोपलब्धि-त्वात्। भ्रमणाभाव एवात्र साध्यभूतः।

अत्र गोदावरीतटं भीरुभ्रमणयोग्यमिति प्रतिज्ञा साध्यं वा। भयकारणसिंहोपलब्धेः हेतुः साधनं वा। यद्यद् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहमिति व्यतिरेकव्याप्तिः। न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः उपनय। तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यं निगमनमिति पञ्चावयववाक्येनानु-मानस्यात्र सिद्धिर्जायते इति महिमभट्टस्याभिप्रायः।

वस्तुतो महिमभट्टप्रायोजितमिदं हेतुर्नास्ति प्रत्युत हेत्वाभास एवेति। हेत्वाभासस्य पञ्चभेदेषु विरुद्धस्वरूपानैकान्तिकानां हेत्वाभासानामत्र वर्णनं सम्प्राप्यते। पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वं शुद्धहेतुरिति। त्रयेष्वेतेष्वपि कस्यचिद् धर्मविशेषस्याभावाद् हेत्वाभासो भवति। पक्षासत्त्वं स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः। विपक्षव्यावृत्तत्वधर्मरहितम् अनैकान्तिको हेत्वाभासः।

अत्र खण्डयति-भीरुभ्रमणायोग्यत्वं सिद्धयितुं सिंहोपलब्धिरित्यत्र हेतुरिति महिमभट्टेन यदुच्यते तन्न। अयमनैकान्तिको हेत्वाभासः। यत्र यत्र भीरुभ्रमणं भवति तत्र तत्र भयकारणमपि स्यादिति व्याप्तिरपि नास्त्यत्र। यतो युद्धादिषु भयकारणं जानतापि राजाज्ञया भीरुभटेन गन्तव्यमेव भवति। तद्वदत्रापि कुत्रचित् गुरोराज्ञया, प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना वा सत्यपि भयकारणे भ्रमति भीरुरप्यनैकान्तिको हेतुः।

अन्योऽपि कश्चन दोषोऽत्र समाश्रयते। गोदावरीतटमत्र वर्तते पक्षः, अस्मिन् पक्षे सिंहोपलब्धिरिति हेतुः। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः केवलं पुंश्चलीकथनेनेवास्य बोधो जायते। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। अतो गोदावरीतटे सिंहोपलब्धिर्न निश्चीयते नूनम्। अतो "यो हेतुराश्रयते नावगम्यते स स्वरूपासिद्ध" इत्यनेन सिद्धान्तवचनेन सिंहोपलब्धिरूपहेतोः गोदावरीतटरूपे पक्षेऽगृहीतत्वादत्र स्वरूपासिद्धो हेत्वाभास इति।

पुनः शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि हेत्वाभास इति प्रतीयते।

**सिद्धान्तपक्षः**— त्रयाणामेतेषामुपर्युक्तानां दोषाणां समभिव्याहारेणानुमानेनात्र कथं सिद्धिरिति। अतो व्यञ्जनावृत्तिरत्रावश्यकीति निश्चप्रचम्।

इत्थं व्यञ्जनयाऽर्थबोधे क्वचिद्भवति शब्दस्य प्राधान्यम्, अर्थः सहकारी। क्वचिद्भवति अर्थस्य प्रधानता, शब्दस्तु तत्र सहकारी। तस्माद् भण्यते प्रकाशकारेण मम्मटभट्टपादेन—

**तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।**

**अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः॥**[29]

व्यञ्जनयाऽर्थबोधे वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यसहकृतप्रतिभाहेतुः क्वचिच्च प्रतिभैव हेतुरिति निष्कर्षोत्कर्षः। निखिलशास्त्रदीक्षितेन अप्पय्यदीक्षितेनापि वृत्तिवार्तिके व्यञ्जनावैशिष्ट्यमित्थमुपावर्णि—

**विश्वं प्रकाशयन्ती व्यापारैर्लक्षणाभिधाध्वननैः।**

**नयनैरिव हरमूर्तिर्विबोधोपास्या सरस्वती जयति॥**

**वृत्तयः काव्यसरणावलङ्कारावप्रबन्धृभिः।**

**अभिधा लक्षणा व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः॥**[30]

वस्तुतो व्यङ्ग्यार्थः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति, लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीति। इत्थं यथामति व्यञ्जनावैशिष्ट्यमस्माभिरत्र प्राकाशि।

## सन्दर्भाः—

1. मीमांसासूत्रम्—1.1.5
2. न्यायदर्शनम्—2.1.55
3. न्यायवार्तिकम्(तात्पर्यटीका)—2.1.55
4. परमलघुमञ्जूषा—शक्तिविचारः
5. वाक्यपदीयम्—पदकाण्डम्- 34
6. तत्रैव —पदकाण्डम्- 35
7. वाक्यपदीयम्- ब्रह्मकाण्डम्- कारिका-23
8. महाभाष्यम्- पश्पशाह्निकम्
9. साहित्यसारः-भूमिकाभागः
10. अलङ्कारमहोदधिः-2/30
11. तत्रैव-2/31
12. तत्रैव-2/32
13. तत्रैव- उदाहरणसंख्या-79
14. तत्रैव-उदाहरणसंख्या-80
15. तत्रैव-3/7-8
16. साहित्यदर्पणः-व्यञ्जनालक्षणापरिष्कारः
17. अलङ्कारमहोदधिः- द्वितीयतरङ्गः
18. तत्रैव-3/2-3
19. काव्यप्रकाशः- पञ्चमोल्लासः
20. मीमांसादर्शनम्-3/3/14
21. कुमारसम्भवम्- 5/71
22. साहित्यदर्पणः-5/2
23. काव्यप्रकाशः- उदाहरणसंख्या-136
24. तत्रैव- उदाहरणसंख्या-135
25. तत्रैव- उदाहरणसंख्या-137
26. तत्रैव- विश्वेश्वरप्रणीतटीका- पृ-254
27. तत्रैव- विश्वेश्वरप्रणीतटीका- पृ-254
28. गाथासप्तशती-2/76
29. काव्यप्रकाशः -2/20
30. वृत्तिवार्तिकम्-प्र.प. कारिका-1-2

## परिशीलितग्रन्थसूची—


1. **काव्यप्रकाशः**- आचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिः, ज्ञानमण्डललिमिटेड, वाराणसी, 2005
2. **अलङ्कारमहोदधिः**-लालचन्द्भगवानदासगाँधी, ओरियन्टल इन्स्टीट्युट्, बडौदा, 1942
3. **साहित्यदर्पणः**- कृष्णमोहनशास्त्री, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आँफिस, वाराणसी,1947
4. **वाक्यपदीयम्**- भर्तृहरिः, सम्पा. सत्यनारायण खण्डूडी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2006
5. **न्यायवार्त्तिकम्(तात्पर्यटीकायुतम्)**-पं. श्रीराजेश्वरशास्त्रीद्रविडः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आँफिस, बनारससिटी, 1925
6. **वृत्तिवार्त्तिकम्**-पं. शिवदत्तशर्मा काशीनाथशर्मा च, निर्णयसागरयन्त्रालयः, मुम्बई,1893
7. **परमलघुमञ्जूषा**- नागेशः, सम्पा. जयशङ्करलालत्रिपाठी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2006
8. **ध्वन्यालोकः(लोचनटीकायुतः)**- आचार्यजगन्नाथपाठकः, चौखम्बाविद्याभवनम्, वाराणसी, 2011
9. **व्यक्तिविवेकः**-प्रो. रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आँफिस, वाराणसी, 1964
10. **वाक्यपदीयम्**- भर्तृहरिः, सम्पा. सत्यनारायण खण्डूडी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2005

# The Contexts of Veda, Purana, Ramayana, and Mahabharata in Bengali Kirtan -A Discussion

Ratneswar Acharya(R.S.)
Raiganj University
Department of Sanskrit

## I.Introduction:-

The melodious flow of the ancient kirtan culture is stil flowing in Bengal. This kirtan has increased its influence not only in Bengal but also abroad. The *Leela kirtan* which was revived by Narottam Das Tagore in Kheturi (undivided India) of Rajshahi district gradually brought the message of universal and world peace not only in Bengal but also outside Bengal. The nector flow of *kirtan* has been promoting even today from home to home, temple to temple, in cultural stage and even in cultural program on television. And with this promotion, the creative expansion and growth has increased a lot with the time being.

### II.Result And Discussion:-

*Kirtan* has its own genre. Generally Bangiyo kirtan which is composed of verses, rhythm and intonation taken from Shrimadbhagabata is one of the special music of Bengal. However, this kirtan of today has been arranged and decorated with various rejuvenating energies. So it can be said that kirtan is the product of the Shrimad Bhagabata, the Gitagovinda by Joydev, the 'Bhakti Ratnakar' by Narhari Chakraborty, Bhaktirasamritasindhu by Shrirup Goswami etc.Apart from these, special contexts of Sanskrit texts like the Vedas, the Puranas, the Ramayana, the Mahabharata where the depiction of ideal characters, the contribution of those characters for the upliftment of then society, their religious teachings by suppressing the evil doers and rewarding the good etc. Are observed in *pala kirtan*. Now a days the *kirtan* singers of *pala kirtan* have been discussing all these matters in melodious manner.

Today the listener of kirtan treat these issues with great respect. That is why *kirtan* singers are being influenced by these texts day by day and increasing the inclusion of such subjects. It is undeniable, however, that the extent of the inclusion of such themes in the ancient Lila *kirtan* songs was very limited.

Among the books mentioned like the Veda, the Mahabharata, the Puranas, the application and the context of the Shrimad Bhagavata and the Puranas are mostly used by the *kirtan* singers. Because the whole subject of the Shrimad Bhagavata Purana is Supreme Brahma who is Supreme Krishna. For good reason, the *kirtan* singers use the subject of tenth wing of Shrimad Bhagavatam. *Kirtaniya* considers those descriptions of 10th volume as one of the subject of *kirtan*.

The issues of Vedas, Vedanga and the philosophical thoughts in today's modern *kirtan* have also come to the fore. The *kirtaniyas* refer to the mantras of the Vedas in the context in which various aspects of the philosophy come up in a similar way.

*Kirtan* singers mention the context of Vedangas as well. *Kirtan* Meastro Gauri Shankar Bandopadhyay used to sing kirtan discussing four Vedas and its philosophy.

It is mentioned in the Ramayana that the Ramayan composed by the Epic poet Valmiki was used in lyric form.

Lob and Kush won the hearts of everyone including Shri Ramchandra by singing Ramayan songs. From that day till today, Ramayan is sung in temples, in religious contexts and even in funeral rites. Similarly, the Mahabharata, the Shrimadbhagwat Geeta are also chanted or sung like the Ramayan in those above mentioned contexts. But the thematic stories, tales anecdotes of the books mentioned at the present time have been incorporated in various fields in the Bengali pala kirtan in Bengal where the subject of Vagavata is not mentioned. The famous singers like kirtan Samrat Suman Bhattacharya, Gauri Shankar Bandopadhyay, Anjan Upadhyay, Palash Sarkar, Krishna Paul present the pala *kirtan* with rhetorical language and relishing manner due to such additions, the fans now enjoy the Lila ras with such gratification. *Kirtan* singer Suman Bhattacharya follows the vedic tradition at the time of chanting the first Mantra of the first mandala in the Rig-Veda. As for example -

Agnimile purahitam,
Yajnasya, devam ritvijam,
hotaram ratnadhatamam. RV- 1/1/1

*Kirtan* meastro Gauri Shankar Bandyopadhyay used to present the verses of Puranas, stories of the Mahabharata, Sanskrit based subjects in Bengali. In this case, the external and physical performance of Shri Bandopadhyay was very attractive to the devotees.

*Kirtan* Maestro Suman Bhattacharya, Krishna padha Haldar, Noni Gopal Pande have been chanting the hymn of Brahma as described in Shri Shri Chandi under *Markondyo Puran*. Once *Kirtan* singer Nadianandan Mitra Thakur expanded the cultural ambience by using some unique hymns from the part of 'Sharatbarnanam' in Bhatti Kavya and later *kirtan* singer Santosh Roy living at Patneel Palsha in the district of Birhum followed this tradition. Moreover his worthy son of Late Nityananda Mitra Thakur revered him by pursuing that tradition till his death. *Kirtan* singers like Suman Bhattacharya, Ray Ramananda mentioned a vast chapter of Vedantadarshan while preaching a conversation between Survbobhaumo and Gauranga in *Pala Kirtan* and represented it with astounding gesture. On the other hand, they also delighted the audience by chanting the Shiva hymns in *lila kirtan* like-

"Prabhumishamonishamosheshagunam,
gunahinamohishagorolavoranam.
Rononirjita durjaya daityapuram,
pranamami shivam shivakalpatarum." (Shiva. Stom)

In other context, Prof. Suman Bhattacharya is seen in chanting 'Chanakya hymns' and 'Saraswati hymns and has won the hearts of listeners by translating the story "Hasbidya Katha" by Vidyapati in Vidyapati Pala *Kirtan*. He has also elucidated -

"Artho Hi Kanya Porokiya ebo, tamadya sonpashya parigrahitu."..... taken from the drama "Abhigyanam Sakuntalam." He also chants a hymn -

"Jodidang Hridoyong Tobo Todostu Hridoyong Momo" (Veda) in the context of marriage.

Among the former famous *Kirtan* singers, Rathin Ghosh, chanted the hymns of Puranas most. Former *Kirtan* singer Abadyut Bandopadhya won the hearts of the audience by chanting various Sanskrit hymes with context apart from the Psalm of Veda, the Ramayan and the Mahabharata. Besides, the audience are enchanted with the discussion 'Somtirtha', 'Chander Sholokala' and Vedanga in Pravash Jyogyo *Palakirtan*.

The chronicle of Shivapuran are also in the part of the symposium of *kirtan*. The crescent moon on the head of Shiva is also a matter of discussion in *Kirtan*. The anecdotes of the Ramayan and the Mahabharata and their relevance are discussed in *kirtan* in the past. But now a day the *kirtan* singers neglecting the genre of Shrimadbhagabata *Padabali kirtan* has emphasized the minor matters in their own ways. As a result of that, the *Kirtan*, song has lost its own uniqueness. The minor subjects excel in the *kirtan* and win the hearts of the audience. Therefore the *kirtan* introduced by *Kirtanguru* Narottam Das Thakur is being neglected.

*Kirtan* singer Archana Das has created an episode(*pala*) named 'Data karna'to highlight the ideals the Karna episode of the Mahabharata. There, Karna's great ideals like sense of duty and sense of responsibility were performed in a well arranged manner and rhethemical and melodious language. Many other Pala *Kirtans* including 'vishwaroop darshanam' also impressed the audience with her uniqueness. It can be said that kirtanya Chaitali Chattaraj did some kind of minute study on the Mahabharata. She has given many gifts to devotees by taking recourse of the Mahabharata. Besides, *kirtan* singers like Vijay Shankar Bandopadhyay, Krishna Pal, Pradeep Pal have won the hearts of the devotees by performing such kirtans with utmost skills and technique. However, in the context of *kirtan*, the soul of *kirtan* - Param Brahma Shri Krishna and Radha in one hand and on the other hand, the central characters aap Kaliyug Abatar - Sri Chaitanya mahaprabhu, Nityananda etc.have become minor issues today is a controversial matter which the devotees - listeners have to judge that. According to many, the matters are very interesting, ideal, well cultured. But the main theme is someway or other neglected in recent times. Many people hold such views. However this trend is increasing day by day.

This ancient genre of *Kirtan* will not only be remembered in Bengal but also in the whole world. *Kirtan* is a healthy culture where there is no obscenity and complexity as we find in drama, theatre, cinema.

In some cases, some shallow- minded listeners do not admit the love relation between Radha and Krishna as a part of healthy-culture. In this case,such a confusing audience should know that Radha and Krishna's love is unconditional love. Krishna is the absolute Brahma, Paramatma and Radha is the same form of Krishna. So, if we know the things as 'Sakar Brahma', this confusion will disappear immediately.

The scriptures say-"Radha Krishna has one soul with two bodies"

When it comes to Shri Gouranga Mahaprabhu,he is the amulgamation of Sri Radha and Krishna appeared as Chaitanya in this Kali Yuga. So, in that case, any debate or critique does not agree with the scriptures. The scriptures like Sri Bhagbata and Bhaisnab scriptures are the instances. From Surbabhoumo Bhattacharya, Raja Prataprudra, Prakashananda

Saraswati all acknowledged Sri Chaitanyadev. Surbabhoumo Bhattacharya's description of Sri Chaitanya Gouranga is incomparable. The off-quoted verse in Chaitanya Chandramrita' – is

"Radhakrishna ak atma duirup dhori.
Ananyne bilosaye ras aswadano kari.. - Chaitanya Charitamrita.

**III. Conclusion:-**

In the end , it is needless to say that Radha-Krishna, Netai- Gour are the main subject matters of *Kirtan*.However, we hope that by taking resourse of these matters of the Ramayana and the Mahabharata, the style of *Kirtan* will be well decorated and beautified and at the same time, the *Kirtan* will develop to its height. But there are and will be contradictions of opinions regarding this matter.

**Bibliography:-**

Original Text

Uttarramcharit Bhababhiti, editors Shyamapada Bhattacharya, Sanskrit Pustak Bhandar, Kolkata.

Srimadbhagavata Krishnadaipayana Bedavasya edited by Abhayacharanvinda, Bhaktivedanta Book Trust Srimayapur 2010(Part-1 contexts-1 -13)

Bhaktivedanta Swami Prabhupada, Nadia,2010.

Srimadbhagavata, Krishnachaipayan Vedavas, editor- Abhoyacharanbinda, Bhaktibedanta, Book Trust, Srimayapur 2010(part-2,Contos-14-44)

Bhaktivedanta, Swami Prabhupada, Nadia 2010

Goswami, Sriradhaballav, Gangamata Banshaboli and Padmavati Book stall, Bolpur, Sri Sri Radha Madhav in Radhbhim, 2013

Goswami ,Amalkrishna Sri Sri Radhamadhav Kotha and Prabhupada Premananda Goswami's Divyajivan Leela Madhuri, Mira offset, Bolpur, 2006.

**Reference books-**

Jayanta Roy, Kirtan Katha, Paraput Kolkata-2018

Hiteshranjan Sanyal, Bangle Kirtaner Itihas, Kolkata-2021(New Edition)

# योगयोगाङ्गसम्बन्धिन्यः काश्चिदनुत्थापितपूर्वा विप्रतिपत्तयस्तत्समाधानं च

निबन्धकः- ड. सेख-साबिर-आलिः

सहायकाध्यापकः संस्कृतसंकाये पश्चिमवङ्गराज्यविश्वविद्यालये

सति संशये प्रयोजने च तद्विषयकः विचारः प्रवर्तते। "नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते। किं तर्हि संशयितेऽर्थे" इति महर्षिगौतमवचनात् "अथ यदसंदिग्धमप्रयोजनं च न च तत् प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः, यथा समनस्केन्द्रितसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः करटदन्ता वा " इति वाचस्पतिमिश्रवचनात् च। तथा च प्रकृतेनापि विषयेण विशयफलवता भाव्यम्। कोऽस्ति संशयः? तथाहि त्रिविधा विप्रतिपत्तयः विद्यन्ते। योग-योगाङ्ग-योगलक्षणघटकनिरोधस्वरूपविषयिण्यः तादृशसंशयशातनमेवास्य बन्धस्य फलमिति संशयफले निगदिते।

ननु कथमत्र योगादिस्वरूपविषयिणी विप्रतिपत्तिर्युज्यते, शास्त्रे योगादिस्वरूपस्य निर्णीतपूर्वत्वात् इति चेन्न। तथापि शास्त्रवचनेषु एव बहुत्र योगस्वरूपं बहुधा प्रपञ्चितमिति तत एवोदेति विप्रतिपत्तिः। तथाहि "अथ योगानुशासनम्"(१/१) इत्यत्र योगपदम् भावव्युत्पत्त्या समाध्यर्थकम्, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (१/२) इत्यत्र चित्तवृत्तिनिरोधपरम्, "तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"( २/१) इत्यत्र तादृशनिरोधसाधनपरम्, "स च योगः यमादिभेदवशादष्टाङ्ग" इति कैश्चिदपि यमादिरपि योगभेदत्वेन योग एव उक्तः। अतः योगशब्दस्य नानात्र व्यवहारात् नानार्थत्वेन संशयः योगशब्दः वस्तुतः किमर्थकः? अत्रोच्यते योगशब्दः चित्तवृत्तिनिरोधार्थक एव। समाधिरिति व्युत्पत्त्यर्थः। न तावत् व्युत्पत्तिनिमित्तमेव पदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भवति। अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। न हि गच्छतीति गौः भवति इति अन्यथा मनुष्यमात्रमपि गौः स्यात्। यश्च यमादिषु योगशब्दप्रयोगः स चापि उपचारेण बोध्य इति न क्वापि विप्रतिपत्तिः अप्रतिपत्तिश्च इति? अत्रोच्यते सत्यम् तथापि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति लक्षणं यथार्थम्।

ननु चित्तवृत्तिनिरोधश्च यत् किञ्चित् चित्तवृत्तिनिरोधः वा सकलचित्तवृत्तिनिरोधः वा? नाद्यः सुषुप्त्यादौ क्षिप्तमूढादिचित्तवृत्तीनां निरोधसम्भवात् तत्रातिव्याप्तेः। तत्र च क्लेशप्रहाणादेरसम्भवात् तामसराजसादिचित्तवृत्तेः सत्त्वेन तस्य योगत्वस्यानुचितत्वात् । नान्त्यः सम्प्रज्ञातयोगे तल्लक्षणस्याव्याप्तेः, तत्र सात्त्विकचित्तवृत्तेरनिरोधात् सकलचित्तवृत्तिनिरोधस्य अभावात् । ततश्च शास्त्रेषु चित्तवृत्तिः विशिष्टाः एव निरुध्यते इति अभिहितम्। कश्चायं विशेषः? राजसतामसत्वं चित्तवृत्तेः क्लेशकर्मविपाकाशयादिपरिपन्थित्वं निरोधस्य वा विशेषः। ततश्च राजसतामसादिचित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगसामान्यलक्षणं क्लेशकर्मविपाकाशयादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगसामान्यलक्षणम् इति बोध्यम्। एतच्च तत्त्ववैशारद्यादौ अभिहितमेवेति किं भवतां नूत्नत्वम् अस्य विचारस्य?

अत्रोच्यते तदपि यथार्थं लक्षणं न वक्तुं योग्यम्। तथाहि राजसतामसचित्तवृत्तिनिरोधस्य योगलक्षणत्वे ध्यानधारणासमाधिषु योगाङ्गेषु स्वतो योगत्वाभावेषु अतिव्याप्तेरापत्तेः। तथाहि धारणाध्यानसमाधीनां त्रयाणाम् एकविषयत्वं शास्त्रे उक्तम्। तदुक्तं संयमसूत्रम्- "त्रयम् एकत्र संयमः" इति(३/४)। तद्व्याख्यायां च व्यासभाष्ये भाषितम्- "एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिको परिभाषा संयमः" इति।

स च विषयः उपादेयभूतं चैतन्यमेव इति । तत्र च पुराणवचनमेव मानम्। तदुक्तम् –

"ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।

तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोभिधीयते"॥ इति।

तथाच तत्रापि सात्त्विकचित्तवृत्तिमात्रस्य सत्त्वेन तत्कालीनराजसतामसचित्तवृत्तिनिरोधस्य सत्त्वात् धारणादिषु योगलक्षणम् अतिव्याप्तं भवति। न च क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधः योग इति योगलक्षणमास्थेयं तत्र इति वाच्यम्, तथापि धारणादिषु अतिव्याप्तेरनिरासात्। न हि कोऽपि धारणादिकं चित्तवृत्तिनिरोधस्य क्लेशकर्माशियादिपरिपन्थित्वाभाववत्त्वेन वाञ्छति। ततः का गतिः योगलक्षणस्य? एवं प्रश्नः न शास्त्रेषु दृष्टचरः। शास्त्रशासितं चेदं योगलक्षणमपि तादृशं दोषं दर्शयितुं नालम्। किं च यदि योगस्वरूपं क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वविशिष्टचित्तवृत्तिनिरोधरूपमाश्रीयते तदा यमादिषु तदङ्गेषु अपि च चरितार्थं भवति। न हि यमादिकं कर्मादिपरिपन्थि न इति केनापीष्यते, अन्यथा यमादीनां कथमुपायत्वेन आश्रयणं भवति? ततश्च यमादिकं स्वतः योगत्वविशिष्टं सत् कथं योगाङ्गं भवितुम् अर्हम्? न हि निपुणोऽपि कोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति। तदेवं प्रथमद्वितीययोः विप्रतिपत्त्योः समाधानं प्रथमविप्रतिपत्तिनिरासनैव सम्भवति। तथा च किं तावत् योगलक्षणम्? "पुरुषस्वरूपावस्थितिचरमकारणत्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधः योगः इति योगलक्षणम्" इति।

केवलं चित्तवृत्तिनिरोध इत्युक्ते धारणादिष्वपि अतिव्याप्तिः। ततश्च पुरुषस्वरूपावस्थितिचरमकारणत्वम् इत्युक्तम्। ननु पुरुषस्वरूपावस्थितिचरमकारणत्वम् असम्प्रज्ञाते एव युज्यते न तु सम्प्रज्ञाते इति तत्राव्याप्तिरिति चेन्न, इष्टत्वात्। अस्माकं मते असम्प्रज्ञातयोग एव योगः न तु सम्प्रज्ञातोऽपि मुख्यया वृत्त्या योगलक्षणलक्ष्यः। ततश्च सम्प्रज्ञाते चित्तवृत्तिनिरोधसत्त्वेऽपि पुरुषस्वरूपावस्थितिचरमकारणत्वाभावात् स च साक्षात् न योगलक्षणलक्ष्यः, तथापि पुरुषस्वरूपावस्थितिकारणत्वम् अस्त्येव, असम्प्रज्ञातसमाधिं द्वारीकृत्य पुरुषस्वरूपावस्थितिं प्रति कारणत्वम् इति तत्रापि उपचारेण योगपदप्रयोगः।

एवं योगाङ्गेषु अपि असम्प्रज्ञातयोगसाधनत्वात् "घृतं वै प्राणाः" इतिवत् साध्यस्य साधने योगपदोपचारः इति वोध्यम्। ततश्च अङ्गत्वमत्र पारार्थ्यापरपर्यायं तदुपकारकत्वम् इति निश्चितिः। दर्शपूर्णमासादौ प्रयाजादीनाम् इव यमादीनामपि तथारूपम्।

ननु असम्प्रज्ञातयोग एव योगः न तु सम्प्रज्ञातोऽपि इति कथम्?

<u>**प्रथमतः**</u> -

स्वतः पुरुषार्थस्यैव लक्ष्यस्वरूपत्वात् न तु तदन्यथाभूतस्य। स्वतः पुरुषार्थत्वं तु अन्येच्छानधीनभूतेच्छाविषयत्वम्। तथाहि मुमुक्षूणां "असम्प्रज्ञातयोगं काङ्क्षे" इति इच्छा न अन्येच्छाया अधीनभूतेति अन्येच्छानधीनभूतेच्छायाः तस्याः विषयः हि "असम्प्रज्ञातयोगः" इति तस्य स्वतः पुरुषार्थत्वात् असम्प्रज्ञातयोगः एव योगः। सम्प्रज्ञातः हि असम्प्रज्ञातयोगनिष्पत्त्यर्थम् इष्यते इति "असम्प्रज्ञातयोगेच्छाधीनभूतेच्छायाः विषयः सम्प्रज्ञातः" इति सम्प्रज्ञाते न साक्षात् योगत्वम्। किन्तु "साध्येच्छा साधनेच्छामुपसंक्रामती"ति न्यायेन सम्प्रज्ञातः योगसाधनत्वेन इष्यते इति तस्य पारोक्ष्येण = उपचारेण योगत्वम् अस्ति। अनेनैव न्यायेन यमादीनामपि औपचारिकं योगत्वमस्तीति बोध्यम्।

ननु असम्प्रज्ञातोऽपि न स्वतः पुरुषार्थः नापि प्रथमोपस्थितः "मुमुक्षूणां मोक्षं प्रतिपत्स्ये" इति मोक्षेच्छाया एव अनधीनेच्छात्वात् मोक्षघटनार्थम् एव असम्प्रज्ञात इष्यते इति असम्प्रज्ञातोऽपि साधनत्वेन अन्येच्छाधीनभूतेच्छाविषय इति तत्रापि साक्षात् न योगत्वम् इति चेन्न। परमो हि लक्ष्यः मोक्षः। स च योगपदवाच्यत्वेन विपदाध्यामितः किन्तु मोक्षसाधनेषु यमादिषु सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोः मध्ये कतरः योगपदवेदनीय

इति जिज्ञासायां तत्र स्वतः पुरुषार्थत्वात् प्रथमोपस्थितत्वात् च असम्प्रज्ञात एव योगपदवेदनीयतामियात् नान्य इति अस्माकं प्रतिपाद्यम्। किञ्च नास्माकं मते स्वतःपुरुषार्थत्वमेव योगपदशक्यत्वम्। तथात्वे मोक्ष एव योगः स्यात्, नान्यः। न चेदं केषामपि इष्टम्। किन्तु मोक्षसाधनेषु योगत्वं कुत्र वर्तते इति प्रश्ने स्वतःपुरुषार्थत्वात् असम्प्रज्ञात एव योग इति उत्तरम्।

**द्वितीयतः** –

प्रथमोपस्थितत्वाच्च असम्प्रज्ञात एव योगपदशक्यः। उपस्थितिः = बुद्धिः। कर्मणि क्तप्रत्ययः अत्र विषयार्थकः। उपस्थितत्वं नाम बुद्धिविषयत्वम्। मोक्षे प्रतिपत्तव्ये असम्प्रज्ञात एव साधनेषु प्रथमतः बुद्धिविषयः भवति ततः तत्साधनतयान्येषामुपस्थितिरिति प्रथमोपस्थितत्वात् असम्प्रज्ञात एव योगः नान्यः।

**तृतीयतः** –

लब्धेऽपि सम्प्रज्ञाते तत्र सत्त्वान्यताख्यातिवत् छिद्रेषु प्राक्तनसंस्काराणाम् अन्तरायाणामुपस्थितिर्भवतीति सम्प्रज्ञातः न निर्विघ्नः, लब्धेऽसम्प्रज्ञाते मुक्तिः निश्चिता इति विवेकः सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोः। निर्विघ्ने परमे उपादेये एव लोकबुद्धिरिति स्वाभाविकम्।

**चतुर्थतः-**

समाधिफलत्वेन सम्प्रज्ञातयोगः सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारफलकः तथा सिद्धयोऽपि प्रादुर्भवन्ति। तथाच सूत्रम् –

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च (३/४९)

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् (३/५०)

तत्र सिद्धिषु पुनः लोभे मोहे च जायमाने सम्प्रज्ञातवतः पुरुषस्य पुनरनिष्टप्रसङ्गः भवतीति तादृशपुरुषसविधे विषायमाणमपि संसाररूपमनिष्टं फलितं भवेदिति सम्प्रज्ञातः कस्य ऐकान्तिकत्वेन पुरुषार्थः स्यात्। तथा च सूत्रम् – स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्(३ /५१)इति। तद्व्याख्यायां च नागोजीभट्टवृत्तौ उक्तं – “अन्यथा सङ्गेन तथैव स्मयेन पुनः संसाररूपानिष्टप्रसङ्गः” इत्यर्थः। एवं मणिप्रभादौ उक्तम्।

ततश्च विघ्नसत्त्वेन विषवत् विषमिश्रितं मधु अपि न केषामपि सर्वत इष्टं स्यात् इति सम्प्रज्ञातः न स्वतः पुरुषार्थः, नापि प्रथमतः उपस्थितः इति असम्प्रज्ञात एव तथाविध इति स एव योगपदवेद्य इति मतम्।

ननु यदि सम्प्रज्ञातः भवतां मते साक्षान्न योगः तदा “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” (१/२) इति सूत्रस्य व्याख्यां कुर्वद्भिः व्यासाचार्यैः “यदेतत् सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते” इति भाष्यं तदनुकूलं वार्तिकादिवचनं किं न विरुध्यते?

अत्रोच्यते न। आख्यायते नाम व्यपदिश्यते। स च गौणतया व्यवह्रियते इति तात्पर्यम्। अन्यथा आख्यायते इत्यनुक्त्वा लक्ष्यते इत्युच्येत। किञ्च योगलक्षणं विधाय तत्फलत्वेन तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् इति यत्सूत्रमसूत्रि तत्र तदा इति तत्पदेन प्रक्रान्तन्यायेन योगस्य एव परामर्शः भवति। स च योगः कः । समेषां शास्त्रकाराणां मते स च असम्प्रज्ञात एव योगः। ततश्च भास्वत्यामुक्तं – “तदा निर्बीजसमाधौ” इति । योगवार्तिके उक्तं – “तदा असम्प्रज्ञातयोगकाले” इति।

ननु यदि एतदेव सूत्रकारस्य अभिमतं स्यात् तदा साक्षादेव सूत्रे "योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः" इति उक्तं स्यात्, कथं चित्तवृत्तिनिरोधः इति एतावन्मात्रमुक्तम्। सम्प्रज्ञातस्य यमादिभ्यः अपि मर्यादाविशेषत्वस्य सूचनार्थं केवलं चित्तवृत्तिनिरोध इत्युक्तम्। तात्पर्यं तु सर्वचित्तवृत्तिनिरोधे। न चैवं न तात्पर्यमिति वाच्यम्, भवतामपि मते केवलं चित्तवृत्तिनिरोधस्य तात्पर्यत्वे सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातः यथा बोध्यते तद्वत् धारणादिरपि योगत्वेन बोध्यताम् इति आपत्तिः उत्थापितपूर्वा अपनोदयितुं न शक्यते। भवद्भिरपि धारणादिव्यावृत्तये क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोध इति तात्पर्यम् अनुसन्धीयते तदपि अनुसन्धानं किमर्थम् इति दोषः भवतामपि पक्षे तदवस्थ एव इति बोध्यम्।

ननु योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्यत्र निरोधपदार्थस्य किं स्वरूपम्। किमयं पदार्थः अभावात्मकः अथवा चित्तस्यावस्थाविशेषः आहोस्वित् निवर्तनाख्यप्रयतनविशेषः। नाद्यः अभावस्य अपुरुषार्थत्वात्, वक्ष्यमाणसंस्काराजनकत्वात् च। नापि चित्तस्य अवस्थाविशेषः, निरोधशब्दो हि भाववचनोऽपि अधिकरणवचनोऽपि घञः द्वेधा प्रयोगदर्शनात् । उभयपरकत्वेन निरोधशब्दस्य ग्रहणे न काचन अनुपपत्तिः यद्यपि दृश्यते तथापि प्रथमातिक्रमणे मानाभावात् इति न्यायेन प्रयत्नविशेष एव ग्राह्यः। प्रयत्नविशेषस्य निवृत्तिरूपस्य सत्त्वे एव ततः परं भवदभिमतः चित्तावस्थाविशेषः परिणमते। अतः प्रथमस्य एव प्रयत्नविशेषस्य ग्रहणम्।

न च योगः = समाधिः "स सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः" इत्यस्य 'योगः चित्तधर्मः चित्तावस्थाविशेषः' इत्यत्र पर्यवसानात् धर्मशब्दग्रहणबलात् चित्तावस्थाविशेष एव भवतु इति वाच्यम्, प्रयत्नः अपि चित्तधर्म एव, न तु शुद्धपुरुषधर्म इति प्रयत्नविशेषपरत्वेनापि चित्तधर्मपदस्य व्याख्यानसम्भवात्। **किञ्च** ततः परं क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धं चेति पञ्च भूमयः उल्लिखिताः। भूमिस्तावत् चित्तस्य अवस्था इति सर्वत्रैव टीकासु आख्यातम्। इदानीं सर्वासु भूमिषु तिष्ठति इत्यर्थे अण्प्रत्यये सार्वभौमपदं निष्पद्यते। सार्वभौमपदेन च तथा निष्पन्नेन योग एव विशिष्यते "सार्वभौमः योगः" इति सामानाधिकरण्यात् तत्र अभेदान्वयसत्त्वात् । न तु भूमिः= अवस्थाविशेषः तत्र योगपदवेदनीय इति वेद्यम् , भूमिपदार्थस्य सार्वभौमेतिवृत्त्यन्तर्भूतत्वात् गौणत्वात्, योगपदार्थानन्वयप्रङ्गात्। तदुक्तं भास्वत्यां – "चित्तसमाधानमेव योगः तस्य सार्वभौमत्वात् पञ्चस्वपि भूमिषु योगसम्भवः स्यात् तत्र प्रबललोभमोहादिवशात् कदाचित् क्षिप्तमूढयोः भूम्योः किञ्चित् चित्तसमाधानं भवति" इति।

अत्र स्पष्टं चित्तभूमिः चित्तावस्था भिन्ना, भिन्ना च चित्तवृत्तिनिवृत्तिः। "अथ योगानुशासनम्" इत्यत्र तु योगः = समाधिः इत्यत्र योगशब्दः व्युत्पत्त्या समाधानार्थकः। प्रवृत्तिनिमित्तं योगशब्दस्य तु समाधानविशेषपरतया योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्यत्र उक्तम्। अस्ति च नियमः सामान्यविशेषयोः समानविषयकत्वम् इति अथ योगानुशासनम् योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्युभयत्रापि चित्तवृत्तिनिरोधरूपः प्रयत्नविशेषरूपः समानविषयः अर्थः उक्तः।

यदि "सार्वभौमः = भूमयोः अवस्था वक्ष्यमाणाः – मधुमती-मधुतीका-विशोका-संस्कारशेषाश्चित्तस्य तासु सर्वासु विदितः सार्वभौमश्चित्तनिरोधलक्षणः योगः" इति तत्त्ववैशारदीवचनं शरणं प्रपद्यत, तदापि स्पष्टं भेदः चित्तावस्था-निरोधपदार्थयोः।

तदेवं योगतदङ्गतदीयनिरोधानां त्रयाणां पदार्थानां स्वरूपमत्र प्रबन्धे परिरकारि। तादृशविषयविशयपिहितं प्राचीनाचार्यग्रन्थगेहगुम्फितं योगतत्त्वम् मदीयादरणीयतर्ककिरणैः कृतविकाशं काशमानं नवीनतया वसताच्चेतःसु चेतोवतामिति शम्।

## ग्रन्थपञ्जी

## (Bibliography)


1. पातञ्जलदर्शनम्, पतञ्जलिविरचितं राघवानन्दसरस्वतीकृत-पातञ्पलरहस्याख्यटिप्पणीयुक्तया वाचस्पतिमिश्ररचिततत्त्ववैशारद्या भूषितम्, विज्ञानभिक्षुनिर्मितयोगवार्त्तिकसमुद्भासितम्, हरिहरानन्दारण्यकृतभास्वतीवृत्त्या सहितम् , गोस्वामिदामोदरशास्त्रिणा सम्पादितम्, चौखम्बासंस्कृतभवनतः प्रकाशितम्, वाराणस्याम् , पुनर्मुद्रितम् 2007 ख्रीष्टाब्दे ।
2. योगसूत्रम् महर्षिपतञ्जलिप्रणीतम्. राजमार्तण्डादिषट्टीकोपेतम्, पण्डितढुण्ढिराजशास्त्रिणा पाठान्तरटिप्पणीभ्यां समलङ्कृत्य संशोधितम्, तृतीयसंस्करणात्मकं, चौखाम्बासंस्कृतसंस्थानतः वाराणस्यां प्रकाशितम्, 2001 ख्रीष्टाब्दे ।
3. *न्यायसूत्रम् (भाष्यवार्तिकतात्पर्यटीकावृत्तिसहितम्)* अमरेन्द्रमोहनतर्कतीर्थतारानाथन्यायतर्कतीर्थाभ्यां सम्पादितम् , देहलीनगरीस्थमुन्सीराममनोहरलालपावलिशार्स्-लिमिटेड्द्वारा १९४४ ख्रीष्टाब्दे प्रकाशितम् ।
4. *ब्रह्मसूत्रम् (द्वितीयभागात्मकम्)* महर्षिवादरायणप्रणीतं भामतीकल्पतरुपरिमलसहितम् श्रीकन्हैयालालजोशीसम्पादितम् देहलीनगरीस्थितपरिमलपाव्-लिकेशन्संस्थात: प्रकाशितम् २००७ ख्रीष्टाब्दे
5. Patanjali. *Pātañjalayogadarśana.* Edited by Suresh Chandra Shrivastava, Varanasi, Chaukhamba Surabharati Prakashan, 1973
6. Patanjali. *Pātañjala Yogadarśana.* Edited by Swami Hariharananda Aranya, Kolkata, Paschimbanga Rajyo Pustak Parshad, 2015
7. Patanjali. *Pātañjalayogadarśanam (Bhojavṛttisametam).* Edited by Swmami Bijnyanashram, Ajmir, The Fine Art Printing House, 1932
8. Patanjali. *Pātañjalayogadarśanam Tattvavaiśaradīsaṃvalita – Vyāsabhaṣyasametam.* Edited by Ramashankara Bhattacharya, Varanasi, Varatiya Vidya Prakashana, 1963
9. Bijnyanabhikshu. *Yogavārtikam.* Edited by Rmakrishna Shastri and Keshava Shastri, Kashi, Medical Hall, 1

# THE OPPRESSION FACED BY FEMALE CHARACTERS IN ANN PETRY'S NOVEL "THE STREET"

SHWETA MOUR, ASHOK SINGH RAO

Department of Arts, Mody University, Laxmangarh, Sikar, Rajasthan (332311)

E-mail:Shwetamour22@gmail.com

***ABSTRACT***

*Ann Lane Petry was a profuse African American writer. The Street was her debut novel that was published in 1946 and was an outstanding achievement by Ann Lane Petry in African American Literature. Issues related to the female protagonist are considerable in her writing. This story examines the struggle of African American women to find a place in society. It also delves into other facets of urban living. This novel takes place in Harlem during the1940s. This paper focuses on the struggle of African- American women, subjugation, Triple Oppression, and Separation under which African's live. This study examines Racial Discrimination, gender inequality, African American Feminism and Supremacy as demonstrate by both white people and members of their society. It investigates the restricted lives of Black women in society from several perspectives. The purpose of this study is to break down African's hardships and their persecuted lives. It explored the problems of being a single mother and a single lady. In her works, Ann Lane Petry beautifully captured the black and white American experience. In the 1940s, The Street was a powerful social satire on the disappointments of black urban life. Ann Lane Petry's novel was well-received and commercial success. The main purpose was to represent this struggle from a feminist perspective.*

**KEYWORDS:** African American Feminism, Subjugation, African-American Women, Racial Discrimination.

## INTRODUCTION

Ann Lane Petry was a renowned writer. She was born and brought up in Old Saybrook, Connecticut, on 12October, 1908. Ann was the youngest of three daughters born to Peter Clark Lane and Bertha James Lane. They were from the black middle class of a tiny town. Her father was a pharmacist who owned and operated a neighborhood drugstore. Her mother was a licensed chiropodist. Petry began writing short stories and plays while still in high school. She earned her bachelor's degree in pharmacy from Connecticut College. She worked as a journalist for two Harlem Newspapers as a sort of apprenticeship. Furthermore, she came up with the slogan of perfume advertisement, while she was in a high school.

In 1938, she married George D. Petry, a mystery writer from New York, and relocated to the city. After her marriage, her life took a turn for the better. In New York, she worked as a reporter for The Amsterdam News and The People's Voice, two Harlem newspapers. Marie of the Cabin Club, her debut short story, was published in 1939. Petry was awarded the Houghton Mifflin Literary Fellowship in 1945 for the opening chapters of her first novel, The Street. Petry was a role model for a new generation of black women writers, including Alice Walker, Toni Morrison, and Gloria Naylor, who had followed in the footsteps of Zora Neale Hurston. Petry's historical works for young readers include The Drugstore Cat (1949), Harriot Tubman: Conductor on the Underground Railroad (1955), Tituba of Salem Village (1964), and Legends of the Saints (1970) are among Ann Petry's historical books for young readers. Miss Muriel and Other Stories (1971), a collection of short stories, illustrates her extraordinary flexibility.

She also worked on a sociological study on the effects of segregation on ghetto children in addition to her writing career. She was a recreational specialist at a Harlem elementary school while also teaching a course at the National Association for the Advancement of Coloured People. Ann Petry's work was significantly impacted by her experiences as a reporter, social worker, and active community member in the inner city. After a brief illness, she died on April 28, 1997, near her home in Old Saybrook. Her characters were average, law abiding African-American from the working class. They were dedicated to hard work and aspired to be a middle-class aspirant who believed in the American Dream.

Ann Lane Petry's novel The Street was a masterpiece of African American Literature. Lutie Johnson, a young black mother, and her struggle to raise her son in Harlem was the subject of the film. Harlem was in the midst of a racial and economic crisis in the late 1940s. Ann Petry's novel was her debut. The Street (1946) was the first book written by a black woman to sell over a million copies. A newspaper article about an apartment home administrator teaching a young child how to collect letters from mailboxes inspired The Street. Petry claims that, the goal of the picture was to "highlight how cheaply and readily the environment can affect the path of a person's life". The Street concentrates on a young woman's frustrated and natural efforts as a spectacle, as a body to be begun with and exploited by male sexual desire. The accomplishment of The Street must be viewed in the context of the objectification of women; rape and dismemberment of women are preconditions for Bigger's ascension into manhood.

## OPPRESSION FACED BY FEMALE CHARACTERS IN THE STREET

The Street was generally praised as the first female novel written by a Black American Woman. It was translated into Spanish, French, Portuguese, Japanese, among other languages. The novel is set in Harlem in the 1940s. It premieres in November 1944 in New York City. In the $16^{th}$ Century, black women were depicted as "icons of evil". Western culture further degraded the image by portraying Black Women as a sexual excess in the minds of White men. As a result, black males were enslaved, while women were relegated to the role of "sexual receptacles for men." Afro-American women brought to America were forced to work as breeding animals. They

were designed to be used as a "body toy" or a "sexpot." Slavery existed in the United States even after it was abolished.

Lutie Johnson, the main protagonist of the novel. She was a Black Woman. She was looking for a place to live that was available for rent. Ann Petry explained how women's prior experiences and current situations made them strong enough to fight for what they wanted. Lutie and Bub were living with her father and Lil, his girlfriend. Lil was a terrible woman. Lutie wished to separate Bub from Lil. Bub was a tiny baby. Lil had him light her cigarettes for her and give him sips of gin when he was just eight years old. Lutie was concerned that Bub might develop a liking for smokes and gin. That was really detrimental to his future. Lutie was also concerned about Lil's intentions toward Bub, and Lil's potential to teach the small kid anything. Petry eloquently depicted in this story how the breakdown of the family leads to a generation of lost children.

Lutie Johnson is trapped on all sides by the great "three isms" of American White and Black societies, namely Capitalism, Racism, and Sexism, unleashed on her by the Chandlers, Junto, Mr.Croose, Jones, Boots Smith, Mrs.Hedges, and Jim. The Chandlers, for whom Lutie works as a "domestic," represent and personify capitalism at the top of the story. The Chandlers are also racist and sexist towards Lutie (both men and women). Lutie Johnson was challenged and made aware of the threefold oppression perpetrated by members of society (American citizens).Lutie Johnson was a young, self-assured white black lady who confronted triple oppression from her estranged husband and white Americans.

Lutie, a single mother living in Harlem and with her eight-year-old son Bub, was subjected to three forms of discrimination. It emphasizes race and gender as persisting hurdles to achieving the American dream. Lutie Johnson is a very ambitious and native black lady, filled with all of the necessary concepts and ideals for success, as well as the drive to carry out her goals as a single black mom, but she was unfairly denied entrance to the world of Benjamin Franklin's philosophy Lutie couldn't overcome her sense of self, and she firmly believed that even if Ben Franklin could survive on a small sum of money and thrive, so could she. Following her divorce from her marriage, she relocated to Harlem, New York. Harlem is a black neighborhood in New York City. She is still there, repressed and silenced as a result of triple oppression.

As more than just a young mother and a Black African woman, Lutie Johnson suffers prejudice in all aspects of her life, both personal and professional. Because they are believed to be of a lesser race, Lutie and the other African Americans in the story are wrongly denied various rights and opportunities that are accessible to Anglo-neighboring Americans. Housing in New York City was separated by race at the time Petry wrote her novel, and only certain buildings would rent flats to black tenants—a kind of institutional racism that severely limited African Americans' options. Lutie, like many other black New Yorkers, wishes to leave crowded Harlem but is unable to do so because she has the financial means to do so. Due to the extreme severe

poverty and gender inequality that existed before to the 1960s civil rights struggle, the novel's Black American protagonists are inextricably tied to Harlem.

As a conclusion, they feel angered and upset since they would not have the same rights and privileges as others. The notion that Black People should have fought alongside other Americans in World War II for liberties that predominantly favor white Americans magnifies these emotions. The representation of misogyny and communism in the 1940s in the U. S. is also significant in Petry's work. Those who do not value Lutie as a woman approach her as a commodity in her search of a good job. She feels compelled to conceal the fact that she has ason because possible employers, such as Boots, are only interested in her for her romantic potential. As the novel's sad climax illustrates, hard work alone is unable to overcome the barriers of race, gender, and class that exist in American culture. The heroine, Lutie Johnson, is introduced to the notion that achievement and economic independence are inevitable results of hard work and perseverance while working for the Chandlers, a white family of considerable wealth—the American ideal.Lutie adopts this mind-set and is always concerned with money, wanting to climb above her poor circumstances in Harlem.

Bub, her son, does not really comprehend why Lutie is so concerned about money, but he too tries to impress his mother, so he works hard to make money. William Jones is imprisoned after trying to take advantage of his desire to earn his mother's affection by luring him into stealing mail. However, as Petry's work vividly portrays, American in the 1940s was not really a place of equal rights for Black People or females. Lutie faces cultural and class prejudice while trying to generate money. Finally, she seems unable to achieve her dream of winning the street war.

## CONCLUSION

Ann Lane Petry was one of the most illustrious authors of African American literature, and her novel The Street was profoundly moving. The notion of a woman's struggle and defeat played a significant role in this story. Petry's most well-known piece, The Street, was a picture of African Americans' economic suffering. Lutie was a novel's black female protagonist who was both distinct and significant. Petry was a well-known author in African American literature who focused on contemporary social concerns such as female struggle, single parenting, and sex politics. The Street addresses the African American woman's specific role in sustaining her position in a world of classism, sexism, and racism. Through the work, Ann Petry studied the black woman as the heart of the family and community. Lutie owed race a moral and ethical obligation.

## REFERENCES

1. Alain Locke, ed., The New Negro, Atheneum, New York, 1968.
2. Bernard W. Bell "Ann Petry's Demythologizing of American Culture and Afro-American Character," in Marjorie Pryse and Hortense Spillers' Conjuring: Black Women, Fiction, and the Literary Tradition.
   Indiana University Press, Bloomington, 1985.

 ISSN 2320-2025

3. Greenbie, Barrie. 2006. Home Space: Fences and Neighbors. Signs of Life in the U.S.A. 5th ed. Sponia Maasik and Jack Solomon. Boston: Bedford/St. Martin's.
4. Petry, Ann L. 1946. The Street. Boston: Beacon.
5. http://en.wikipedia.org/wiki/AnnLanePetry
6. http://en.wikipedia.org/wiki/AfrianAmericanLiterature

# "स्वाधीनोत्तर संस्कृतमहाकाव्येषु विश्वायनम्"- एका समीक्षा

विश्वनाथ-माहातः
शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः,
रायगञ्ज-विश्वविद्यालयः

**उपक्रम**:- विश्वभाषा भवति संस्कृतभाषा। वैदिकालादद्यावधि अविच्छिन्नधारया लोककल्याणकारितत्त्वानि गर्भीकृत्य रत्नगर्भा वसुधा समेयंविराजते। संस्कृतभारत्याः विशालं सारस्वतभाण्डागारं दर्शं दर्शं विश्वस्य काव्याध्वानसमीक्षकाः प्राचीनकवीनां कुशाग्रतिक्ष्णबुद्धिं तर्कयन्ति। धन्येयंतदाश्रितेयं प्रतिभा यया सम्पूर्णलोकस्य शान्तिमार्गः शब्दार्थकलेवरे सुरक्षितः। धर्मचारिणां भक्तिमार्गः, अर्थान्वेषिणां वणिङ्मार्गः, कामार्थिनां फलाप्तिमार्गः, मोक्षार्थिनां परमात्मतत्त्वविमर्शश्च तत्रैव विशाले वाङ्मये साङ्गोपाङ्गतया वर्णिताः। एतत्सर्वस्य फलस्य भोक्ता स एव भवति यस्तु क्रियाशीलः, तल्लीनतया कर्मणि प्रवृत्तः ईश्वरविश्वासी च । उद्योगिनां फलं तु मधुरं न तु आलस्यपरायणानामिति नीतिश्च नीतिशास्त्रिणां मुखारविन्दात् निर्गता एव।[1] अतः मानवजन्मनः सार्थकाय यत्ज्ञानमपेक्षितमस्ति तत्सर्वं संस्कृतस्य विशाले वाङ्मये व्याकरण-दर्शन-धर्मशास्त्र-छन्दः-ज्यतिषकाव्यादिभेदैः पुष्पलितमेव। तत्रापि काव्यमार्गे व्यापकतया सकलतत्त्वानां रसात्मकमार्गेण स्थापनं भवत्येव । भरतमुनिमतं सर्वैः स्वीकृतमेव **"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"।** [2]आचार्यो मम्मटोऽपि स्वकाव्यप्रकाशस्य प्रथमोल्लासे काव्यप्रयोजनानि विमृश्य रसानन्दस्य प्रामुख्यं वदति,तथा च काव्यमार्गेण संस्कारसमृद्धं राष्ट्रनिर्मातुमभिलषति।[3] काव्यादेव कीर्तिलाभः, अर्थलाभः, व्यवहारज्ञानस्यलाभः, अमङ्गलविनाशः, रसानन्दलाभः, सरसमार्गेण सदुपदेशलाभः। सदुपदेशपालनादेव नरः संस्कारवान् भवति तदेवराष्ट्रस्यकृते नितरामपेक्षते।

संस्कृतकाव्यजगत् अन्यकाव्यजगतोभिन्नम्। अत्र काव्यजगति क्रान्तदर्शीकवीनां मुख्यं लक्ष्यं भवति ब्रह्मानन्दभूतरसानन्दस्यलाभः। ब्रह्मानन्दसहोदरभूतरसानन्देन सह उत्कृष्टसमाजस्य निर्माणायचास्य प्रयासः श्लाघनीय एव। एकस्य सामाजिकस्य चतुर्वर्गमतिरिच्य अन्यं किमपि प्रयोजनं नास्तीति श्रुति-स्मृतिशास्त्रपारदर्शिणांविदुषां मतम्। काव्याद्ऽपि चतुर्वर्ग-प्राप्तिर्भवति इति भामह-कुन्तकः-भोजराजः-कविराजविश्वनाथ- प्रमुखाः स्पष्टतया वदन्ति। तत्र विश्वनाथो वदति-

**"चतुर्वर्गपलप्राप्तिः सुखात् स्वल्पधियामपि।**

---

[1]उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनेरथैः
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगः ।।(हितोपदेशे प्रस्ताविके-३६)
[2]नाट्यशास्त्रम्-6
[3]काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये
सद्यः परनिवृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे (मम्मटकृतः काव्यप्रकाशः प्रथमोल्लासः)

**काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।**[4]

अतएव समाजतत्त्वानुशीलनकाले सामाजिकानां चतुर्वर्गप्राप्तिः कथं सुखेन स्यात्,कथं च तल्लाभाय मानवानां प्रवृत्तिःसत्यमार्गेण भवेत् इति अनुसन्धेयम्। वाल्मिकी-व्यास-कालिदासादिभ्यःप्रारम्भ रमाकान्तशुक्ल-अभिराजराजेन्द्रमिश्र-सत्यव्रतशास्त्रि-हरेकृष्णशतपथीकवीन्यावत् सवर्त्रकाव्येषु समाजनिर्माणस्य विभिन्नाः दिशः रसगुणालङ्कारपरिपूर्णाः विन्यस्ताः सन्ति। संस्कृतकाव्यजगति आदिकाव्यरामायणस्य ,व्यासकृतमहाभारतस्य, कालिदास-भारवि-माघ-श्रीहर्ष प्रमुखानां महाकाव्यानि, भास-अश्वघोष-शूद्रक-विशाखदत्त-भवभूति-प्रमुखकविवराणां दृश्यकाव्यानि, सुबन्धु-दण्डि-वाणभट्ट-अम्बिकादत्तव्यासप्रमुखानां गद्यकाव्यानि, विष्णुशर्म-नारायणप्रभृतीनां कथाकाव्यानि, जगद्गुरुशङ्कराचार्य-रामानुज-चैतन्यप्रभृतिविरचितानां स्तोत्रकाव्यानि अद्याऽपि राष्ट्रमङ्गलतत्त्वामृतप्रदानेन सहृदयश्लाघ्यानि सन्ति। यथा प्रचीनधारायां काव्यनाटकानां प्रभावः सामाजिके आसीत् तथा अर्वाचीनकवीनांमथुरानाथशास्त्री-जानकीवल्लभशास्त्री-बटुकनाथशास्त्री-वच्चुलाल-अवस्थी-क्षमाराव-रतिनाथझा-श्रीधरभास्करवर्णेकरः-जगन्नाथपाठकः-रामकरणशर्मा-सत्यव्रतशास्त्री-रेवाप्रसादद्विवेदी-अभिराजःराजेन्द्रमिश्रः-राधावल्लभत्रिपाठी-रमाकान्तशुक्ल-हरेकृष्णशतपथीप्रमुखकवीनां काव्येषु कलापक्षः तथा न उत्फुल्लितः, यथा भावपक्षस्य पुष्कलता दृश्यते। सर्वत्र काव्ये समाजमङ्गलाय यानि तत्त्वानि अपक्षन्ते,तानि तत्त्वानि विभिन्नचरित्रमाध्यमेन कविभिः उपस्थापितानि सन्ति।प्राचीनसाहित्ये दैत्यानां विनाशो विशेषतया वर्णितः, तेषां विनाशे समाजस्य स्थितिर्मधुमयी भवति। कवीनां रचनासुनायकानांदैत्यविनाशाय आत्मविश्वासो ध्वनितो भवति, किन्तु अर्वाचीनसाहित्ये कामनासक्तदैत्यप्रवृत्तेः विनाशाय,अर्थमोहस्य व्यापादनाय स्वाधिपत्यगर्वस्य भञ्जनाय निष्पेषितजनानां रक्षणाय च सन्देशःप्रदत्तोऽस्ति। काव्यपरम्परानुसारेण वाच्यमुखेन कदापि मुख्यफलस्य उपस्थापनं न क्रियते, यतः पुराणेतिहासादिषु तादृशार्थस्य उपस्थापनं भवति। काव्यमार्गे तु कवेः यत् लोककल्यामकारित्त्वं तत्तुगुणालङ्काररीत्यादिशब्दार्थशरीरोपषृकृततत्त्वेन विभावाऽनुभावादि-व्यञ्जकार्थेन उस्थाप्यते। अतः काव्यानन्दःआलौकिकानन्दः उच्यते। सामान्यपदपदार्थज्ञानेन नैतद्रमणीयतत्त्वं आस्वाद्यते इति ध्वनिकारस्य

दृढोक्तिर्यथा- **शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।**
**वेद्यते स हि काव्यार्थतत्तवज्ञैरेव केवलम्।।**[5]

**कविपरिचयः**

उत्कलप्रदेशस्य केन्द्रापडामण्डले भितरवम्पु इति ग्रामे १९५६ ख्रीष्टाब्दे विद्याविनीतात् पितुः

---

[4]कविराजनिश्वनाथस्य साहित्यदर्पणः-1/2

[5]ध्वन्यालोकः-१/७

कृष्णचन्द्रात् जनन्यां निशामणीदेव्याम् अस्य जन्म बभूव। कात्यायनगोत्रोद्भवोऽयं ब्राह्मणपरिवारे जनिमाप्य बाल्यादेव संस्कारवान् बभूव । अस्य जेष्ठभ्राता नारायणः, कनिष्ठश्च केदानाथः। अयं पितुः मध्यमपुत्रः । समीचीने वयसि संस्कृतविदुष्या शारदाकान्तया सह परिणयोजातः। इमौ पितरावपि कन्याद्वयस्य एकस्य पुत्रस्य च पितरौ स्तः। संस्कृतपरिवारे उषित्वा सप्रचण्डप्रतिभया आङ्ग्लोसाहित्यं-संस्कृतसाहित्यं-गणितशास्त्रं-नीतिशास्त्रं च सम्यक्तया अधीतवान्। छात्रावस्थायां त्रयोदशस्वर्णपदकैः विभूषितोऽयं विद्वद्गौष्ठ्यां बहुसन्मानं प्राप्तवान्। अद्यापि तद्कण्ठाश्रिता भारती बहुविधपुरस्कारैः पुरस्कृता भवति। अस्य विलक्षणवाग्मितां प्रशंसयन्तः समालोचकाः वदन्ति-

**"हरेकृष्णसमो वाग्मी न भूतो न भविष्यति।"।**

अयं उत्कलस्यप्रसिद्धे रेभेन्सामहाविद्यालये अध्यापकवृत्तिं प्रारब्धः। ततःजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालये आचार्यपदेन अभिसिक्तस्सन् अवसरग्रहणंकृतवान्। श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयस्यप्रभारिकुलपतिपदेन,
तिरुपतिस्थराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयेदशवर्षाणिकुलपतिपदेन, प्रसिद्धेकिस् विश्वविद्यालये च वर्षत्रयं कुलपतिपदेन संस्कृतमातुः सेवामकरोत्। प्रशासनक्षेत्रे स्थित्वाऽपि शास्त्रालोचनायां शास्त्ररचनायां च मतिं व्यदधात्।

**अस्यकृतयः**

विश्वायनमहाकाव्यम्, भारतायनमहाकाव्यम्, गङ्गाजलदूषितखण्डकाव्यम्, राघवयादवीयचरितस्य समीक्षात्मकमध्ययनम्, कविशतकम्, धर्मपदखण्डकाव्यम्, संस्कृतसाहित्येतिहासः(उत्कलभाषया)। इमाः मौलिककृतीःविहाय बहवः सम्पादितग्रन्थाः तस्य विजयगाथां गायन्ति । सर्वत्र काव्येषु जनमङ्गलवार्ता विकशितसमाजकल्पनाच प्राप्येते।

**कथावस्तु**

विश्वायनंभवति अभूतपूर्वककविकल्पनस्य फलम्। यथा प्रचीनाः ऋषय अमृतमयविश्वं सत्यमार्गेन शान्ति लाभेन च अकामयन्त तथा कविशतपथीमहोदयोऽपि अत्र विश्वायनमहाकाव्ये सत्याख्यस्य नायकस्य शान्तिसंज्ञाधारिण्या नायिकया सह मिलनं वाच्यमुखेन उक्तम् । विश्वशान्तिनिमित्तं समाजे सत्यस्य नितराम् आवश्यकता अस्तीति व्यङ्गात्मकवस्तुकल्पितम् । काल्पनिक कथावस्तु आश्रित्य कविः सत्येन सह शान्तेः मिलनं विधाय मधुमयं श्रृङ्गारस्य अङ्गित्वं कल्पितम् । यथास्थाने रसोपष्कारकाः माधुर्य-औज-प्रसादगुणाः, वैदर्भीप्रमुखाः रीतयः, अनुप्रासोपमाद्यलङ्काराः नियोजिताः सन्ति ।

द्वादशसर्गात्मकेऽस्मिन् महाकाव्ये इमेविषयास्सन्ति यथा-

१.प्रथमसर्गः - सत्यशान्तिजननम्

२. द्वितीयसर्गः – सत्सशान्तिसौरभवर्णम्

३.तृतीयसर्गः–कोपनामकराक्षसवधपुरस्सरं सत्यशान्तिप्रणयप्रतिपादनम्
४.चतुर्थसर्गः – सत्यशान्तिसङ्कल्पवर्णनम्
५. पञ्चमसर्गः – सत्यशान्तिविवाहबन्धनम्
६. षष्ठसर्गः – सत्यशान्त्योः मङ्गलमधुचन्द्रिका,कविपुत्रोत्पत्तिः .
७. सप्तमसर्गः - सत्यशान्तिसुपुत्रकविमहिमावर्णनम्
८. अष्टमसर्गः – वैश्विकदर्शनम्
९. नवमसर्गः – कविसृष्टिसौरभवर्णनम्
१०.दशमसर्गः – अमेरिकागौरवोपस्थापनपुरस्सरं विश्ववैभववर्णनम्
११. एकादशसर्गः -विश्ववक्षसि विभूषितविभिन्नदेशगौरववर्णनम्
१२. द्वादशसर्गः – विश्वायनसमुत्कर्षप्रतिपादनम्

**उपसंहारः**

सत्यशान्तिमार्गेण समृद्धः समाजस्य निर्माणार्थं कवेः काव्यनिर्मीमिक्षा स्पष्टीभवति। प्रसङ्गक्रमे सामाजिकी व्यवस्था, सांस्कृतिकी व्यवस्था च अत्र काव्ये ग्रथिते स्तः। आधुनिकव्यष्टिसमष्टिजीवनेषु अपि सन्ति नैके सङ्कटाः अतः आत्मज्ञानलाभे, कर्तव्यविषयज्ञानलाभे सर्वेषां जीवनं सुखशान्तिमधुमयं भविष्यति, तज्ज्ञानं विश्वायनमहाकाव्ये निगदिता । सत्यमाध्यमेन शान्तिस्थापनस्य सन्देशं द्रढयितुमलौकिकविश्वस्य रचयिता स्वयं क्रान्तदर्शी कविरपि समर्थः इति प्रतिपादयितुं "**विश्वायनम्**" इति महाकाव्यस्य परिकल्पना कृता। सत्यशान्तिसौरभवर्णनं प्रसङ्गे कविः कथयति-

**सत्येन पन्थाः परिकल्पमानः सत्येन पन्थाः परिचाल्यमानः।**
**सत्येन पन्थाः परिगम्यमानः सत्येन पन्थाः परिशोभमानः।। (२/७)**
**सत्येन धर्मः धरणीञ्च धत्ते सत्येन कर्मैव फलं प्रसूते।**
**सत्येन चित्तं शिवसत्यशोभिसङ्कल्पयुक्तं भवतीह भूमौ।। (२/११)**

**सन्दर्भग्रन्थसूची**

१.शतपथी,आचार्यः हरेकृष्ण, ***"विश्वायनमहाकाव्यम्"*** अनुसन्धानप्रकाशनविभागः राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः-५१७५०७,२०१३

२. शतपथी,आचार्यः हरेकृष्ण, ***"भारतायनमहाकाव्यम्"*** अनुसन्धानप्रकाशनविभागः राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः-५१७५०७,२००८ ।

३. षडङ्गी, डॉ.बुद्धेश्वरः, ***साहित्यसुधा,*** वनारस मार्कान्टाइल कम्पानी, कलकाता-७००००७, २०१३ ।

४. षडङ्गी, डॉ. बुद्धेश्वर, ***काव्यप्रकाशः,*** वनारस मार्कान्टाइल कम्पानी, कलकाता-७००००७, २०१२।

५. त्रिपाठी, आचार्यराधाभल्लभः, ***आधुनिक-संस्कृतसाहित्य-सन्दर्भसूची,*** प्रकाशकः- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् ५६-५७ इस्टीट्यूनल एरिया जनकपुरी, नवदेहलि-११००५८, प्रथमसंस्करणः२०१२ ।

# न्यायदर्शनस्य विविधनामधेयत्वे कारणम्।

**ड. उत्तम-विश्वासः**

संस्कृताध्यापकः विद्यासागरविश्वविद्यालयस्य

'दृशिर् प्रेक्षणे' इति दर्शनार्थकदृश्-धातोरुत्तरं 'दृश्यतेऽनेने' ति करणवाच्ये ल्युटा दर्शनशब्दनिष्पत्तिः। अतः दर्शनशब्देन ईक्षणमित्यर्थो गम्यते। ईक्षणं नाम पर्यवेक्षणम्, अर्थात् कस्यचिद्विषयस्य सूक्ष्मेक्षिकया दृष्ट्या अवेक्षणम्। तच्चावेक्षणं भारतीयदर्शनशास्त्रेणैव गतार्थतां लभते। भारतवर्षस्य पुण्यतीर्थे अद्यापि दर्शनशास्त्रस्य अध्यात्मज्ञानगौरवात्मकविजयध्वजा उड्डीयमाना दृश्यते। न केवलं भारतीयवाङ्मये विश्ववाङ्मयेऽपि भारतीयदर्शनशास्त्राणां गुरुत्वं तथा स्थानमानादिकम् अतीवाभिनन्दनार्हमिति जानन्त्येव विश्वविद्वांसः।

भारतीयदर्शनशास्त्रम् आस्तिकनास्तिकभेदेन द्विविधम्। तत्र आस्तिकं तार्किकसांख्यमीमांसाभेदेन त्रिधा। तार्किकञ्च न्यायवैशेषिकभेदेन द्विधा, सांख्यञ्च निरीश्वरसेश्वरभेदेन द्विधा। यत्र निरीश्वरत्वेन सांख्यदर्शनं, सेश्वरत्वेन च योगदर्शनं बोध्यते। एवं मीमांसापि पूर्वोत्तरभेदेन द्विधा, यत्र पूर्वमीमांसारूपेण मीमांसादर्शनम्, उत्तरमीमांसारूपेण वेदान्तदर्शनं बोध्यते। नास्तिकदर्शनञ्च चार्वाकबौद्धजैनभेदेन त्रिधा विभज्यते। तत्रापि बौद्धदर्शनं वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकभेदेन चतुर्धा विभज्यते, चतुर्विधया भावनया तैस्तत्त्वप्रतिपादनात्। जैनदर्शनञ्च श्वेताम्बरदिगम्बरभेदेन द्विधा। एवं साकल्येन समुपलब्धेषु न्यायवैशेषिकादिषु षडास्तिकदर्शनेषु अन्यतमं खलु न्यायदर्शनम्।

दर्शनशास्त्रं हि अध्यात्मविद्याप्रतिपादकम्। वेदोपनिषदादिशास्त्रेषु जीवानां परमपुरुषार्थरूपमोक्षलाभार्थं यदेवात्मादितत्त्वसाक्षात्कारः परमकर्तव्यतया उपदिष्टः तदेव तत्त्वं न्यायशास्त्रेऽपि किञ्चित् पृथक्तया प्रतिपादितत्वात् तस्य दर्शनशास्त्रत्वं प्रतिपद्यते।

निपूर्वकात् 'इण् गतौ' इत्यस्मात् धातोरुत्तरं करणवाच्ये 'हलः' इति सूत्रानुसारं घञ्-प्रत्यये नि-इण्-घञ् – इत्यवस्थायां धातुप्रत्यययोरनुबन्धलोपे 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन धातोः वृद्धौ ऐकारे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन आयादेशे नि+आय इति स्थिते 'इको यणचि' इत्यनेन सन्धिकार्ये यणादेशे न्याय इति शब्दसिद्धिः। तेन नीयते प्राप्यतेऽयनं मोक्षो येनासौ न्यायः। नीयतेऽधिगम्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः। भाष्यकारेण वात्स्यायनेन न्यायभाष्ये न्यायशब्दस्य लक्षणम् एवं विहितं यत्- 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' [i] इति। वार्त्तिककारेण उद्द्योतकरेण न्यायवार्त्तिके न्यायस्य लक्षणं गदितमेवम्- 'समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः' [1] इति। अतः उद्द्योतकरदिशापि प्रमाणादर्थाधिगम एव न्यायः। परन्तु अत्रेदं ज्ञेयं यत् प्रमाणैरर्थपरीक्षणकाले प्रमाणानां सहायको भवति तर्कः। अत उक्तं प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः। वरदराजेनापि तार्किकरक्षायामुक्तं- "प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य तर्कोऽनुग्राहको भवेत्" [ii]। नव्यमीमांसकेन मानमेयोदये उक्तं- "यतः प्रत्यक्षशब्दादिप्रमाणान्यखिलान्यपि तर्कं विना न जीवन्ति प्रत्यक्षे तावदीक्ष्यताम्। तस्मात् सर्वप्रमाणानां तर्कोऽनुग्राहकः स्थितः।।" [1] इति। तेन न्यायशब्दस्य अयमेव पर्यवसितोऽर्थः स्यात्- तर्कानुग्रहेण प्रत्यक्षादिप्रमाणानि आधारीकृत्य केषाञ्चन सिद्धान्तानां परीक्षणं न्यायः। एतादृशस्य न्यायस्य यद्दर्शनमनुभवस्तदेव न्यायदर्शनं न्यायशास्त्रं न्यायविद्या वा।

अस्य न्यायशास्त्रस्य नामान्तराणि यथा आन्वीक्षिकी, न्यायविस्तरः, तर्कशास्त्रं, तर्कविद्या, हेतुशास्त्रं, हेतुविद्या, वादविद्या, प्रमाणशास्त्रम्, अनुमानशास्त्रं, नीतिशास्त्रं, वाकोवाक्यम्, तक्की, विमंसीत्यादीनि। ननु न्यायशास्त्रस्य न्यायविद्यायाः वा कथमेतादृशं नामधेयत्वमिति जिज्ञासा क्रमेण अधस्तात् निरस्यते।

अनु पश्चात् ईक्षणं मननं युक्तालोचनं वेति अन्वीक्षणं शास्त्रानुसारं मननं वेत्यर्थः। अतः न्यायमञ्जरीकारेण जयन्तभट्टेन उक्तं- " प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा अनुमानमित्यर्थः। तद्व्युत्पादकं शास्त्रमान्वीक्षिकम्" [iii] इति। एवं न्यायभाष्येऽपि भाष्यकारेण वात्स्यायनेनानुरूपमुक्तं- " प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्" [1] इति। महाभारतस्य शान्तिपर्वणि जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे एतन्मतसमर्थकं वाक्यं परिलक्ष्यते- " श्रवणम् ईक्षा युक्तालोचनमन्वीक्षातत्प्रधानामान्वीक्षिकीं चतुर्थीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिञ्चापेक्ष्य" इति। न केवलं महाभारते मन्वादिशास्त्रेष्वपि न्यायशास्त्रस्य आन्वीक्षिकीनामधेयत्वं दरीदृश्यते। तथा हि श्रीमद्भागवतस्य तृतीयस्कन्धे प्राप्यते-

" आन्वीक्षिकी त्रयी वार्तादण्डनीतिस्तथैव च।

एवं व्याहृतश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दहृतः।।" [iv] इति।

मनुसंहितायामपि एकस्मिन् श्लोके प्राप्यते-

" त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यात् दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः।।" इति।[1]

याज्ञवल्क्यसंहितायाम् ऋषिर्याज्ञवल्क्यः सुष्ठु राज्यशासनार्थं त्रय्यादिविद्याभिः सह आन्वीक्षिकीविद्याशिक्षार्थं राज्ञे उपदिदेश। कौटिल्यप्रोक्ते अर्थशास्त्रे आन्वीक्षिकीविद्याया उल्लेखः दृश्यते। श्रीहर्षेणापि नैषधचरिते दशमसर्गे आन्वीक्षिकी मोक्षोपयोगिशास्त्रतया निगदिता। तदुक्तम्- " आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामा कलितां प्रतीमः" [v] इति। न्यायसूत्रवृत्तिकारस्य आचार्यस्य विश्वनाथस्य मते मन्वादिप्रोक्तेयमान्वीक्षिकीन्यायशास्त्रमेव। किञ्च वात्स्यायनोद्योतकरादीनां मतेऽपि आन्वीक्षिकी एव न्यायविद्या। अस्याः आन्वीक्षिकीविद्यायाः महत्त्वं प्रदर्शयन्नाह भाष्यकारः न्यायभाष्ये-

" प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।।" [1]इति।

एवं कौटिलीयेऽर्थशास्त्रेऽपि आन्वीक्षिकीविद्यायाः अनुरूपं महत्त्वं सूचितम्। तदुक्तं कौटिल्येन-

" प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।" इति।[vi]

अत्रेदमवधेयं यत् कौटिल्येन अर्थशास्त्रे " सांख्यं योगः लोकायतञ्चेति आन्वीक्षिकी" [1] इति आन्वीक्षिकीविद्यायाः यो भेदः प्रदर्शितः तत्र लोकायतशब्देन न्यायशास्त्रमेव गम्यते। अत्र कौटिल्येन आन्वीक्षिकीपदेन सांख्ययोगयोरपि ग्रहणं कृतं, किन्तु भाष्यकृता

आदिमसूत्रभाष्ये आन्वीक्षिकीशब्देन केवलं न्यायशास्त्रमेव गृहीतम्। अमरसिंहेनापि अमरकोषे आन्वीक्षिकीशब्देन तर्कविद्यैव प्रतिपादिता। तदुक्तं-

" आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः।" [vii] इति।

स्मृतिशास्त्रेषु तथा पुराणेषु इयं न्यायविद्या चतुर्दशविद्यासु परिगण्यते।[1]

जयन्तभट्टेनापि न्यायमञ्जर्यां चतुर्दशविद्यासु अस्याः न्यायविद्यायाः उल्लेखः विहितः। तदुक्तं जयन्तभट्टेन-

" अन्यत्राप्युक्तम् –

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।" [viii] इति।

एवं विष्णुपुराणेऽपि अष्टादशविद्यासु न्यायविद्यायाः अपि परिगणनं दृश्यते। तत्र तु न्यायविस्तरशब्देन न्यायशास्त्रं न्यायविद्या वा गम्यते।[1] महाभारतस्य शान्तिपर्वणि इन्द्रकाश्यपसंवादे यः आन्वीक्षिकीशब्दः उदीरितस्तत्र आन्वीक्षिकीशब्देन नास्तिकतर्कविद्यैव बोधिता[ix] इति।

अन्यत्र सर्वत्र तु आन्वीक्षिकीशब्देन आस्तिकतर्कविद्यैव बोधिता। अतः राजशेखरसुरिणा आन्वीक्षिकीविद्यायाः भेदद्वयं कल्पितं काव्यमीमांसायाम्। इयमान्वीक्षिकी एव न्याय इति नाम्ना प्रसिद्धा। वात्स्यायनमते परार्थानुमितौ प्रयोज्यं प्रतिज्ञादिपञ्चावयवात्मकं वाक्यं न्यायः। अतः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि न्यायः। केषाञ्चिन्मते तच्च न्यायशास्त्रं नीतिशास्त्रतयापि अभिधीयते। तदुक्तं ' मिलिन्द-पञ्ह' इति बौद्धपालिग्रन्थे- " सांख्ययोगनीतिविसेसिका" इति। जगदीशतर्कालंकारेणापि ईश्वरानुमानचिन्तामणेः दीधितिटीकायामुक्तम्- " कुर्वन्ति नित्यमनुमानमणेरनेके प्रायः प्रयासमधिदीधितिनीतिभाजः" इति।

न्यायशास्त्रमिदं प्रमाणशास्त्रमपि कथ्यते। ननु किमत्र नामधेयत्वे कारणम्? अत्रोच्यते दर्शनशास्त्रस्य विषयविवेचनं द्विधा क्रियते लक्षणैकचक्षुषा लक्ष्यैकचक्षुषा चेति। ये तावत् दार्शनिकाः लक्ष्यैकचक्षुष्काः ते आदौ लक्ष्यं निर्धार्य तदनन्तरं तदनुरूपं लक्षणं प्रस्तुवन्ति। तद्यथा अद्वैतवेदान्ते वेदान्तिन आदौ जीवब्रह्मणोः ऐक्यरूपं लक्ष्यं निर्धार्य तदनन्तरं तदपेक्षितानि प्रमाणानि सिद्धान्तान् चोपस्थापयन्ति। एवं सांख्यमीमांसयोरपि दृश्यते। किन्तु ये तावत् दार्शनिकाः लक्षणैकचक्षुष्काः ते आदौ लक्षणं निर्माय तदनन्तरं तदनुसारि लक्ष्यं प्रतिस्थापयन्ति। यथा न्यायवैशेषिकादयः। अतः नैयायिकाः खलु स्वग्रन्थेषु प्रमेयाणां पुष्टिं विधातुं प्रमाणानां महत्त्वं स्वीकृतवन्तः। प्रमाणानां महत्त्वाच्च तेषां शास्त्रं प्रमाणशास्त्रमित्यप्युच्यते।

एतन्न्यायशास्त्रं तर्कशास्त्रं तर्कविद्या वा उच्यते। ननु तस्य एतादृशनामधेयत्वे किं बीजम्? इति चेदुच्यते- नैयायिकैः न्यायशास्त्रे मोक्षप्रतिपादकेषु षोडशपदार्थेषु तर्कनामपदार्थः स्वीकृतः। न्यायसूत्रकारेण तस्य तर्कपदार्थस्य लक्षणमपि एवं विहितं- " अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमुहस्तर्कः" [1] इति। किन्तु केशवमिश्रस्य तर्कभाषायां तथा अन्नंभट्टस्य तर्कसंग्रहे " तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः" इत्येवं प्रकारेण तर्कशब्दस्य व्युत्पत्तिदर्शनात् प्रतीयते यत् तर्कशब्देन तत्तच्छास्त्रप्रतिपाद्याः पदार्थाः अपि बोध्यन्ते। तथाहि तर्कसंग्रहे तर्कशब्देन द्रव्यगुणादयः सप्तपदार्थाः एव बोध्याः तच्छास्त्रे तेषामेव प्रतिपादनात्। एवं तर्कभाषायामपि तर्कशब्देन प्रमाणादिषोडशपदार्थानां बोधः, तच्छास्त्रे प्रमाणादिषोडशपदार्थानामेव प्रतिपादनात्। एवं तर्कशब्दस्य पदार्थात्मकत्वग्रहणात्

तत्सम्बन्धि शास्त्रं तर्कशास्त्रमित्युच्यते। ' सा एव विद्या या विमुक्तये' इति धिया न्यायशास्त्रस्य मोक्षजनकत्वात् मुक्तिप्रतिपादकत्वाच्च विद्यात्वम्। अतः तस्य न्यायशास्त्रस्य तर्कविद्या इत्यपि समाख्या परिलक्ष्यते। अपि च प्रमाणैः प्रमेयसिद्धिः तर्कनामपदार्थं व्यतिरिच्य प्रायः न सम्भवति। किञ्च संशयितस्य अर्थस्य संशयनिरसनेऽपि तर्केण प्रयोजनमस्ति यतः तर्कानुगृहीतः न्यायः संशयितेऽर्थे एव प्रवर्तते। तदुक्तं भाष्यकारेण- " नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि संशयितेऽर्थे।" [x] इति। किं बहुना तर्केणैव कस्याश्चित् समस्यायाः समाधानं सम्भवेत् अथवा तर्केणैव संशयानः स्वसंशयं विदूरीकृत्य निर्णयं सिद्धान्तं वा उपैति। एवमेव न्याये तर्कस्य महत्त्वं गुरुत्वं च विचार्य न्यायशास्त्रस्य तर्कशास्त्रं तर्कविद्या वेति नामधेयत्वमुपन्यस्तम्।

न्यायशास्त्रस्य नामान्तरम् अनुमानशास्त्रमिति। चार्वाकं विहाय सर्वैरेव भारतीयदार्शनिकैः प्रमेयसिद्धौ अनुमानप्रमाणमुपकल्पितम् । परन्तु समेषामेव दार्शनिकसम्प्रदायानां शास्त्रमनुमानशास्त्रं नोच्यते, केवलं न्यायशास्त्रमेव अनुमानशास्त्रमित्युच्यते। कथमिति चेदुच्यते केवलं नैयायिकैरेव वेदस्य प्रामाण्ये अनुमानप्रमाणमुपस्थापितम्, अन्येषां मध्ये तु कैश्चिद् वेदस्य प्रामाण्यमेव न स्वीकृतं, कैश्चित्तु वेदस्य प्रामाण्ये स्वीकृतेऽपि तस्य प्रामाण्ये अनुमानप्रमाणं न प्रदर्शितं केवलं वेदार्थविचारे एव अनुमानप्रमाणं प्रदर्शितम्। तद्यथा बौद्धजैनैः वेदस्य प्रामाण्यमेव न स्वीकृतम्। एवं सांख्ययोगैः स्वशास्त्रप्रतिपाद्यविषयान् प्रतिपादयितुम् अनुमानप्रमाणं व्यवस्थापितम्। मीमांसकैः स्मृतिशास्त्राणां प्रामाण्यकल्पे अनुमानं प्रदर्शितम्। वेदान्तिभिः उपनिषद्वचनानां प्रामाण्यकल्पे अनुमानं प्रदर्शितं, न तु वेदस्य प्रामाण्यकल्पे । अतः न्यायशास्त्रमनुमानशास्त्रमित्युच्यते।

न्यायशास्त्रे विना हेतुं किमपि तत्त्वं न प्रतिपादितं दृश्यते। अतः शास्त्रमिदं हेतुप्राधान्यात् हेतुशास्त्रं हेतुविद्या वा उच्यते।

न्यायशास्त्रमिदं वादशास्त्रतयापि उच्यते। महर्षिणा अक्षपादेन न्यायसूत्रस्य प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकस्यादौ वादलक्षणमुदीरितम्-

" प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः वादः" [1] इति।

एतल्लक्षणानुसारं ज्ञायते यत् वादशब्देनैव न्यायशास्त्रस्य प्रतिपाद्यत्वं संसूच्यते। अतः तत्प्रधानं शास्त्रं हि वादशास्त्रमित्यत्र का शंका? नास्ति कापि शंका इत्याशयः।

छान्दोग्योपनिषदि सनत्कुमारं प्रति नारदः यासां विद्यानां ज्ञातृरूपेण आत्मनः परिचयं प्रादात् तासु विद्यासु वाकोवाक्यमासीत् । छान्दोग्योपनिषदि नारदोक्तं यत् वाकोवाक्यं पदं समुपलभ्यते तत्र वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रमित्येवं तर्कशास्त्रतया व्याख्यातं भाष्यकारेण शंकराचार्येण। प्रसङ्गतोऽत्र नारदोक्तिरपि उपस्थाप्यते-

" ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्।

इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यां राशिं दैवं निधिं

वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां

नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" इति।[xi]

वस्तुतस्तु वाकोवाक्यं नाम उक्तिप्रत्युक्तिरूपं शास्त्रम् यत्तु न्यायदर्शनमेव मुख्यतः परामृशति। प्रदीपटीकायां कैयटेनापि एतदेव भणितम्। कैयटोक्तिरत्रोल्लिख्यते – " वाकोवाक्यमिति। वाकोवाक्यशब्देनोक्तिप्रत्युक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते- यथा – ' किंस्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महद्' इति" ।[1]

न्यायशास्त्रमिदं योगशास्त्रमित्यपि उच्यते। कथमिति चेदुच्यते- जैनन्याये (रत्नाकरावतारिकायां) बहुत्र ' अत्र यौगाः' इत्येवं प्रकारेण केषाञ्चन मतवादाः उपस्थापिताः ये मतवादाः महर्षिपतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे नोपलभ्यते परं न्यायवैशेषिकदर्शनयोस्तु एतादृशानां मतवादानां समर्थनं परिलक्ष्यते। अतः कल्प्यते प्राचीनाः न्यायशास्त्रार्थे योगशब्दस्य योगशास्त्रशब्दस्य वा प्रयोगं कुर्वन्ति स्म, तदनुसारञ्च न्यायमतावलम्बिनः योगाः यौगिकाः वा उच्यन्ते।[1]

अथवा योगबलेन महर्षिरक्षपादः षोडशपदार्थस्वरूपं ज्ञात्वा न्यायसूत्रं चकार। महर्षिः कणादश्च द्रव्यादिपदार्थानां तत्त्वज्ञानं लब्ध्वा वैशेषिकसूत्रं विरचयामास इति प्रसिद्धः जनश्रुतिर्वा अस्ति। अतः तादृशप्रसिद्धिवशात् न्यायमतावलम्बिनः यौगाः इत्युच्यन्ते स्म इति वक्तुं शक्यते।

अथवा न्यायवैशेषिकयोरुभयोरेव मतानुसारं परमाणुकरणवादः स्वीकृतः। तयोर्मतानुसारं परमाणुद्वयसंयोगः एव सृष्टेः प्रथमं प्रधानञ्च कारणम्। मन्ये तदर्थमेव नैयायिकाः न्यायमतावलम्बिनो वा यौगा इत्युच्यन्ते। एवमेव न्यायशास्त्रस्य पूर्वोक्तानि सर्वाण्येव नामधेयानि याथार्थ्यमुपयान्ति।

### अन्त्यटीका

[i]फणि, न्या.द., पृ- २८
[ii]ता.र., अ.-१,सू-७४, पृ- १९३
[iii] गौरी,न्या.म.पृ-९
[iv]श्रीमद्भा.तृ.स्क.
[v]नै.च.(द.स.)श्लो.८२,पृ-४१३
[vi]कौ.अ. 1-2,7
[vii] अ.को.पृ-३९
[viii] गौरी,न्या.म.पृ-९
[ix] " आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्" (महा.शान्ति.)
[x]न्या.सू.१.१.४०
[xi]छा.उ- ७.१.२
[xi] . श्रीभार्गव.पाणिनीय.व्या. महाभाष्य.प्रदीप.टी.-पृ-७१


।। ग्रन्थसूचिः ।।

1. कौटिल्यः, *कौटिलीयमर्थशास्त्रम्,* गणपतिशास्त्रिविरचितश्रीमुलाव्याख्यासहितम्, नइ दिल्ली: राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्, २००२ ।
2. गौतमः, *न्यायदर्शनम्, वात्स्यायनभाष्यसहितम्, उद्योतकरवार्तिकसहितम्, विश्वनाथवृत्ति- सहितञ्च,* सम्पा॰ तारानाथन्यायतर्कतीर्थः अमरेन्द्रमोहनतर्कतीर्थश्च, नवदेहली; मुन्सीराम-मनोहरलालपाब्लिशार्स् प्राइभेट् लिमिटेड, १९८५ (द्वितीयसंस्करणम्), कलिकाता-संस्कृतसिरीज नं - XVIII.
3. जयन्तभट्टः, *न्यायमञ्जरी*(खण्डः१-३); *चक्रधररचितग्रन्थिभङ्ग- टीकासहिता,* सम्पा॰ गौरीनाथशास्त्री, वाराणसी, संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, १९८२ (प्रथमसंस्करणम्) ।
4. नारायणभट्टः, *मानमेयोदयः*(प्रथमो भागः), सम्पा॰ दीननाथत्रिपाठी नवतीर्थ, कोलकाता; संस्कृतकलेज्, १९९० (प्रथमसंस्करणम्), कलिकाता-संस्कृत-कलेज-रिसर्च-सिरिज् नं – CXXXVIII.
5. गौतमः, *न्यायदर्शनम्* (खण्ड-१) कोलकाता; पश्चिमबङ्गराज्यपुस्तकपर्षत्, १९८९ (द्वितीयसंस्करणम्) ।
6. भासः, *प्रतिमानाटकम्.* अनु०, सम्पा॰ च जगदीशचन्द्रः तर्कतीर्थः, कलिकाता; संस्कृत पुस्तक भाण्डार, १३७७ बङ्गाब्दः।
7. वरदराजः, *तार्किकरक्षा, मल्लिनाथसूरिरचितसारसंग्रहटीकसमेता,* विन्ध्येश्वरीप्रसाद-द्विवेदिनासंस्कृतम्, वाराणसी; मेडिकल हल, १९०३ (प्रथमसंस्करणम्)।
8. श्रीहर्षः, *नैषधचरितम्. मल्लिनाथकृतजीवातुटीकासमेतं चन्द्रिकेतिहिन्दिव्याख्योपेतं च,* व्या० सम्पा० च डा देवर्षिः सनाढ्यशास्त्री, वाराणसी: कृष्णदास एकादेमी, २००२(पुनर्मूद्रणं प्रथमसंस्करणतः), कृष्णदाससंस्कृत सीरीज-५२ ।

# श्रीभाष्यरीत्या ईश्वरस्यानुमानम्

**डॉ. प्रभातकुमारसाहुः**

वेदव्यासेन लिखितानां ब्रह्मसूत्राणां अनेकैराचार्यैः भाष्यानि विरचितानि । तेष्वन्यतमं श्रीमद्रामानुजा-चार्यैर्विलिखितं भाष्यं श्रीभाष्यनाम्ना व्यवह्रियते। ब्रह्मसूत्राणि, उपनिषदः, भगवद्गीता इति प्रस्थानत्रयस्य भाष्याणि श्रीमद्रामानुजाचार्या व्यलिखन्। एतेषामाचार्याणाम्मतं विशिष्टाद्वैतमित्युच्यते। सकलकल्याणगुण-विशिष्टेन ब्रह्मणा जीवस्य ऐक्यमत्र वर्णितमिति विशिष्टाद्वैतशब्दोऽस्य मतस्य सिद्धो भवति । श्रीमद्रामानुजाचार्याः स्वीयस्य भाष्यस्यातिविपुलत्वात् तदर्थ संक्षेपेण वेदान्तसार, वेदान्तदीपादीन् ग्रन्थान् व्यरचयन् ।

ईश्वर शब्दस्य व्युत्पतिः यत्- ईश् धातु वरच् प्रत्यये ईश्वर शब्दः सम्भवति' [1] । यस्यार्थः ऐश्वर्यवानिति। स तु सर्वदा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसच्चिदानन्द स्वरुपः; ईश्वरः सृष्टिकर्ता सर्वव्यापी-सर्व नियन्ता च भवति। अयमेव क्षरादक्षरात् चाऽप्युत्तमः इति गीतायां भगवता श्रीकृष्णेनोक्तम्-

उत्तमः पुरुषोस्तन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोक त्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।[2]

सैव क्रत्स्नस्य जगतः परमं कारणमिति। एतस्मिन् विषये गीतायां भगवतः उक्तिः यत्-

[1] शब्दकल्पद्रुमः

[2] श्री.भ.गीता-१५/१७

**मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जयः।**
**मयि सर्वमिदं प्रातं सूत्रे मणिगणा इव।।'[1]**

अयामीश्वर: अव्ययः-परमात्मापुरुषश्चेति । तस्य वहुनि नामानि विद्यन्ते, तानि यथा- ईन्द्र-विष्णु-वसु-अग्नि-प्राण-वायु-रुद्र-सविता- ब्रह्मा-महेश्वर-शिव-प्रजापति इत्यादयः। कैवल्योपनिषदि वर्ण्यते यत्-

**स. ब्रह्मा स शिव: सेन्द्रः सोक्षर: परमः स्वराट्।**
**स एव विष्णु: स प्राण: स कालोग्निः चन्द्रमा:।।[2]**

**योगदर्शने ईश्वर:-**

आस्तिक दर्शनेषु योगदर्शनमन्यतमम्। अस्मिन् दर्शने समाधिपादे महर्षि पतन्जलि: सम्प्रज्ञातऽसम्प्रज्ञात समाधीतिद्वयोः स्वरुपं प्रतिपादनानन्तर शीघ्र समाधिलाभ: कथं सम्भवतीति समाधानव्याजेन ईश्वरस्य लक्षणं स्वरुपादिकञ्च प्रतिपादयन्ति। यथा - ईश्वरप्रणिधानाद्वा [3] अर्थात् सम्प्रज्ञातऽसम्प्रज्ञातोपाय द्वयोऽतिरिक्तं समाधिसाधननिमित्तम् ईश्वरस्य प्रणिधानमपि उपायान्तरमस्ति। एवञ्च तदीश्वरस्य स्वरूपविषये सूत्रकारेणोक्तम्- क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरूषविशेष:ईश्वरः [4] । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: पञ्चक्लेशा:' [5] , कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत् कर्मफलं भवति विपाकः, विपाकानुगुणा वासना नाम

---

[1] श्री.भ.गीता-७/७

[2] कैवल्योपनिषद-८

[3] यो. सू.-१/२३

[4] यो. सू.-१/२४

[5] यो. सू. -२/३

आशयाः। ते च मनसि वर्तमाना पुरूषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्ता इति । यथा जय: पराजयो वा योद्धृषु वर्तमान: स्वामीनि व्यपदिश्यते। यो हि अनेन भोगेन अपरामृष्टः, स पुरुषविशेष: ईश्वर:[1] अर्थात् य: सर्वकार्यकलापेषु असङ्गो भवति, सर्व कृत्वाऽपि किमपि न करोति, तत् पुरुषविशेष: ईश्वरनामेति श्रुयते। उपनिषद्यपि अस्येश्वरस्य स्वरूपं विषये

**न तस्य कार्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**
**परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान वलक्रिया च।।[2]**

परिदृश्यमानस्यचराचरस्य जगत: कारणमेकैव ईश्वरश्चेति सर्वशास्त्र स्वीकृतम्। योग-दर्शने अस्य पदस्य सार्थकताअपि वर्ण्यते यथा- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[3] । एवञ्च ईश्वरस्य त्रैकालिक नित्यता प्रतिपादयता उच्यते- स: (ईश्वर:) पूर्वेषाम् अपि गुरु: कालेनऽनवच्छेदात्[4] तदनन्तरं तदीश्वरस्य जपनार्थ भावनार्थं ॐ कारस्य महनीयता प्रतिपादयति । सूत्रकारेणोक्तं यत्- तस्य वाचक: प्रणव:१२ अर्थात् प्रदीप-प्रकाशयोर्मध्ये यथा सम्बन्धोऽस्ति, तथा ॐ कार: ईश्वरद्वयोर्मध्येऽपि तथा सम्बन्धः वर्तते। तत्परं मङ्गलमय ॐ कारस्य पुन:पुन: जपन: पुन: पुन: भावनं माध्यमेन सामाधिलब्धुं शक्नोतो साधकः, ॐ कारस्य महनीयता विषये भगवता श्रीकृष्णेनोक्तम्-

---

[1] यो.सू.-१/२४

[2] श्वे. उ.-६/८

[3] यो.सू. -१/२५

[4] यो. सू.-१/२६

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।"**

**रामानुजमते ईश्वर:-**

आचार्य रामानुजनये समस्तज्ञानशक्तिमान् कल्याणगुणाकरः, प्राकृतगुणरहित: आनन्दस्वरूपः, जगत: उत्पत्तिस्थितिलयहेतुकः, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, शरणागतानामुद्धारकः श्रीमन्नारायण एव ईश्वर: इति कथ्यते। अयमेक एव भक्तानां कामनापूर्तये पञ्चधा विभजते पर: व्यूहः विभवः, अर्चा, अन्तर्यामीत्वेन च इति एतेषामाशयः। "परमेश्वरस्यैवभोक्तृत्व भोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरुपेणावस्थानमिति" सर्वदर्शनसंग्रहे सूचितम् ।

अत्र भाष्यकाराः एवं निर्णयन्ति । यदुक्तम्, 'कार्यं सर्वं जगत् सावयबत्वात्' इति, कार्यञ्च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेयः इति न युक्तम् । महीमहार्णवादीनां कार्यत्वेसत्यप्येकदैवैकेन ते निर्मिताः इत्यत्र प्रमाणाभावात्। यथा एकः घट: एककार्यत्ववान् तद्वत् सर्वेषां पदार्थानामेककार्यत्ववत्त्वं तु न स्वीक्रियते। पृथग्भूतेषुकार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात् ।[1]

न च क्षेत्रज्ञानां परमाणुप्रभृतिपदार्थाज्ञानेन विचित्रजगन्निर्माणाशक्त्याच कार्यत्वबलेन क्षेत्रज्ञव्यतिरिक्तः कश्चित् कल्प्यते कर्तृत्वेनेति वाच्यम्, क्षेत्रज्ञानामवोपचितपुण्यविशेषाणां

---

[1] श्री.भा। पृ. ४५,४६।

शक्तिवैचित्र्यस्य लोके दर्शनेन तेषामेव केषाञ्चिदतिशयितादृष्टसम्भावनया कर्तृत्वसम्भवात् ।[1]

न हि महीमहार्णवादीनामत्यन्तविलक्षणपदार्थानां कर्तृत्वेनैक एव स्वीकार्यः इति निमयः । यदुक्तं नैयायिकप्रवरैः - युगपत्सर्वोत्पत्तिः सर्वोच्छित्तिश्चानुमानेन साधयितुं शक्यत' [2] इति, तदपि भाष्यकारैः प्रामाणिकतया न स्वीक्रियते। युगपत्सर्वोत्पत्तिः सर्वोच्छित्तिश्च न प्रमाणपदवीमधिरोहतः[3] इति भाष्यपङ्क्तिः ।

अत्र 'न्यायकुसुमाञ्जलौ' उदयनाचार्यः युगपत्सर्वोत्पत्तिः भवितुमर्हति तथैव सर्वसम्हारश्च इति महता प्रयत्नेन साधितम्। तत्रत्यपङ्क्तिः - वृत्तिनिरोध- स्यापि सुषुप्त्यवस्थावदुपपत्तेः । एकस्यैव तत् (भोगवैमुख्यम्) कथञ्चिदुपपद्यते, न तु विश्वस्येति चेत्, अनन्ततया, अनियतविपाकसमयतया, उपमोपमर्दकस्वभावतया च कर्मणाम्, विश्वस्य एकस्य वा को विशेषः, येन तन्न भवेत्[4] इति। तत्तावत् वेदान्तिभिः न स्वीक्रियते, प्रमाणविरोधात्।

क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशौ दृश्येते लोके। अतः बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वहेतुः अनैकान्तः, अनेककर्तृकरथगोपुरादिषु बुद्धिमदेककर्तृकाभाववत्सु कार्यत्वस्य सत्त्वात्। पक्षस्य महीमहार्णवादेः

---

[1] श्री.भा। पृ. ४६।

[2] न्या.कु। पृ. ११९

[3] श्री.भा। पृ. ४७

[4] न्या.कु। पृ. १२०,१२१

बुद्धिमदेककर्तृकत्वरूपविशेषणस्या-प्रसिद्धत्वादप्रसिद्धविशेषणत्वमिति दोषः, दृष्टान्तस्य बुद्धिमत्साध्यविकलत्वं सार्वज्ञ्यादिविशिष्टकर्तृकत्वस्य घटादौ अभावात्[1] । सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्या प्रसिद्धेः'[2] इत्यत्र भाष्यपङ्क्तिः । बुद्धिमत्कर्तृकत्वमानं साध्यते चेत्, सिद्धसाधनं दोषः। सिद्धसाधनं नाम साध्यनिश्चयः ।

किञ्च एवं प्रश्नः क्रियते - सार्वज्यसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुनिष्ठमुत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुनिष्ठम् ? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं कार्यत्वं हेतूकर्तुं न शक्यते, तादृशस्य कार्यत्वस्यासिद्धत्वात् । क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्य अनेककर्तृकत्वसाधनात् विरुद्धता'।[3] अत्राप्येककर्तृकत्वसाधने प्रत्यक्षानुमानविरोधः । कुम्भकारो जायते रथकारो जायते इति शास्त्रात् बहुकर्तृकत्वमेव क्रमिकानां पदार्थानां सिद्धम्। अत्र एककर्तृकत्वं तु साधनं नार्हति ।[4]

अपि च सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनाञ्च सत्त्वादिगुणकार्यरूपसुखाद्यन्वयदर्शनेन सत्त्वादिमूलत्वमवश्यमाश्रयणीयम्। कार्यवैचित्र्यहेतुभूताः कारणगताविशेषाः सत्त्वादयः । तेषां कार्याणां तन्मूलत्वापादनं तद्युक्तपुरुषान्तःकरणविकारद्वारेण पुरुषस्य

---

[1] श्री.भा। पृ. ४८

[2] श्री.भा। पृ. ४८

[3] साध्याभावव्याप्तो हेतुः विरुद्धः इति।

[4] श्री.भा। पृ. ४९

च तद्योग: कर्ममूल: इति कार्यविशेषारम्भायैव ज्ञान-शक्तिवत् कर्तुः कर्मसम्बन्धः कार्यहेतुत्वे-नैवश्याश्रयणीयः, ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात्। इच्छाया: कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषितायास्तस्यास्सत्वादिमूलकत्वेन कर्मसम्बन्धोऽवर्जनीय:।[1]

एवञ्च तादृशकर्मसम्बन्धवान् क्षेत्रज्ञः एव भवितुमर्हतीति कृत्वा ईश्वरः कथं तत्र साधयितुं शक्यते ? न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघात इति वाच्यम्, प्रतितर्कमात्रत्वात् नह्नि तेन स्वमतं सेत्स्यति।

ननु कर्तृत्वं शरीरापेक्षमित्यनेन किं विवक्षितम् ? यदि कृति प्रति शरीरं कारणमिति चेत्, तन्न । शरीरं विना मनोमात्रेण तत्सम्भवस्य प्रागुक्तत्वात्।यदि कृत्यधीनः बाह्यवस्तुगतो व्यापारः शरीरव्यापारद्वारकः इति। तन्न । पुरुषस्य कृत्यधीने एव शरीरव्यापारे शरीरान्तः व्यापारद्वारकत्वस्यासम्भवात्। यदि प्रेरणानुकूलस-ङ्कल्पवत्पुरुषसम्बन्धविशेषः पुरुषसंयुक्तशरीरसंयुक्तत्वरूपः एव भवतीति तदपि न, शरीरप्रेरणायां तदभावात् । यदि तु पूर्वक्षणावच्छिन्नशरीर-सम्बन्धस्याभावे व्यापार्यमाणवस्तुसम्बन्धः पुंसो भवति इत्युच्यते, तदपि न। व्यापार्यमाणस्वशरीरसम्बन्धस्य प्राथमिकस्य शरीरसम्बन्धपूर्वकत्वाभावादित्याक्षेपः इति चेत्, तत्रोच्यते भाष्यकारैः - न

[1] श्री.भा। पृ. ४९,५०

च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः । तत्रापि अनादेः सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावात् इति ।

**संदर्भाः -**


१. योगदर्शनम् - भारतीयविद्याप्रकाशन - वाराणसी - 1963

२. भारतीयदर्शनम् - शशिप्रभाकुमार, विद्यानिधिप्रकाशन, दिल्ली – 1999

३. षड्दर्शनसूत्रसंग्रहः - जे.एल.गुप्ता, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली - 2012

४. श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस - 2007

५. शब्दकल्पद्रुमः - - मोतिलाल बनारसिदास् - वाराणसी - 1961

६. श्वेताश्वेतरोपनिषदः – गीताप्रेस्, गोरखपुर - 2012

७. न्यायकुसुमाञ्जलि - चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली - 2012

८. श्रीभाष्यम् - चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान - दिल्ली – 2016

# श्रीअरोविन्दस्य भवानी भारती एकम् अध्ययनम्

डा. भारतभूषणरथः
अध्यापकः, साहित्यविभागः
राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः – आ.प्र
Email: paramatmabharat@gmail.com

श्रीअरोविन्दः भारतस्य अमूल्यं रत्नम्। "ऋषिस्तु किल दर्शनात्" इति शास्त्रमतमाधारीकृत्य भारतीयदर्शने श्रीअरोविन्दस्य पाण्डित्यं दृष्ट्वा विद्वांसः तम् ऋषि इति सम्मानयन्ति । भारतीयदर्शनं ज्ञात्वा श्रीअरोविन्दः न केवलं ऋषिः अपि च भारतस्य जनजीवने तस्य कृषिः महती आसीत्। 1872 तमे संबत्सरे अगष्टमासस्य पञ्चदशे दिनाङ्के कोलकतानगरे जन्म लब्ध्वा स्वसाधना तथा प्रतिभावशात् विश्वप्रसिद्धो जातः श्रीअरोविन्दः । पितुः कृष्णानन्दघोषस्य लक्ष्यमासीत् स्वपुत्रः अरोविन्दः विदेशे अध्ययनं कृत्वा महान् भवतु इति। परन्तु विधिः यथा इच्छति जीवनं तथैव भवतीति संसारनियमः। अतः बाल्यावस्थायां अरोविन्दः विदेशं गत्वा युवावस्थापर्यन्तम् इँलाण्डदेशे अध्ययनं कृतवान्। परन्तु कालान्तरे भारतं प्रत्यागत्य सन्यासजीवनं यापितवान्। यत् न कोऽपि चिन्तितवान् आसीत् ।

श्रीअरोविन्दस्य जन्म भारतस्य कृते एव आसीत्। अतः सः भारतस्य पवित्रभूमौ आजीवनं तपः आचरितवान्। भारतस्य शास्त्रपरम्परायामवगाहनं कृत्वा श्रीअरोविन्दः ज्ञातवान् यत् अयमेव देशः मानवजीवनस्य वास्तवं लक्ष्यं परिपूरयितुं समर्थः। अतः ऋषिभिः प्रणीतानां शास्त्राणां सम्यग् अध्ययनं कथं भवेदिति चिन्तितवान् श्रीरोविन्दः। तदर्थं संस्कृतभाषायाः ज्ञानं परमम् आवश्यकमिति विज्ञाय अरोविन्दः सर्वादौ संस्कृतभाषां अधीतवान्। तदनन्तरं वेदः, उपनिषद्, रामायणं, महाभारतं तथा श्रीमद्भगद्गीता प्रभृतिषु दर्शनग्रन्थेषु मनोनिवेशं कृत्वा कालिदास,भारवि,माघ,श्रीहर्षप्रभृतीनां च साहित्यं सम्यग् अध्ययनं कृतवान् ऋषिः अरोविन्दः। कालान्तरे भारतवर्षस्य पण्डिचेरीनगरे तपश्चरणं कृत्वा समग्रं विश्वं स्ववचोमृतेन प्लावितवान् ऋषिअरोविन्दः। विशेषतया श्रीअरोविन्दस्य शिक्षाविषयकः उपदेशः अतीव गुरुत्वपूर्णः। समाजसंस्कारकत्वेन दार्शनिकत्वेनापि अयं विश्वप्रसिद्धः।

भारतमातुः कृते श्रीअरोविन्दस्य अनन्या भक्तिः आसीत्। एतदङ्गत्वेन मातृशक्तिं सर्वथा सम्मानयति अयम् ऋषिः। भारतमातुः प्राचीनं स्वरूपं ज्ञात्वा तथा वर्त्तमानं स्वरूपं दृष्ट्वा श्रीअरोविन्दः महद्दुखं प्राप्तवान्।अतः स्वजन्मभूमेः समृद्धये संकल्पबद्धो सन् श्रीअरोविन्दः विविधप्रकारकं शैक्षिकं, सामाजिकं, सास्कृतिकं च कार्यं प्रारब्धवान्।

श्रीअरोविन्दस्य चेतनायां भारतमातुः स्वरूपद्वयं स्पष्टतया परिलक्ष्यते। एकं तु भवति सुन्दरं भारतम्। अन्यदेकं दुःखप्रपीडितं भारतम्। श्रीअरोविन्दः यदा भारतस्य प्राचीनां स्थितिं वर्णयति तदा तस्य दृष्टौ भारतमातुः स्वरूपं सुन्दरं तथा रमणीयम्। तदानीं मातुः मुखे शान्तिः, शोभा च परिलक्ष्यते। सा तदानीं हसोन्मुखी। परन्तु यदा भारतस्य साम्प्रतिकिं स्थितिं वर्णयति तदानीं भारतमाता कुपिता, रक्तमुखी, दुःखजर्जरिता तथा म्लानमुखी अस्ति। मातुः एवं परिवर्तनस्य कारणरूपेण ऋषिअरोविन्दः भ्रष्टाचारीन् एव दोषारोपणं करोति। न केवलं पापीजनाः अपि च तान् ये अनुसरणं कुर्वन्ति ते अपि भारतमातुः दुर्द्दशायाः कारणभूताः इति स्पष्टतया लिखति ।

स्वीय भवानी-भारती इति ग्रन्थे कविः अरोविन्दः मातुः वर्णनम् कृत्वा लिखति –

मातास्मि भोः पुत्रक भारतानां

सनातनानां त्रिदशप्रियाणाम्।

शक्तो न यान् पुत्र विधिर्विपक्षः

कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा।।[1]

त्वमीश्वरी त्वं प्रजानां कोऽन्यः

प्रभुर्दानमिदं तवाढ्ये।

स्वामित्वमैश्वर्यमनिन्ध्यतेजो

ददासि या सापि निहंसि रुष्टा।।[2]

उपरोक्त पद्येषु कविः श्रीअरोविन्दः भारतमातुः शान्तमूर्त्तिं वर्णयति। साक्षात् भारतमाता श्रीअरोविन्दं पुत्र इति सम्बोधनं कृत्वा अवदत् – हे पुत्र ! अहमेव भारतजनतानां माता अस्मि।मम पुत्राः देवप्रियाः, सनातनाः तथा भारतभूषणाः भवन्ति। मम कृपा सर्वदा तेषाम् उपरि भवतैव।मम कृपावशाद् प्रतिकूलं भाग्यम् उत यमः मम पुत्रान् नाशयितुं नैव समर्थः।

एवमेव भारतमातुः दिव्यगुणान् स्मारं स्मारं कविः वर्णयति – हे देवी ! त्वं हि साक्षात् देवी असि । त्वं प्रजानां माता असि। प्राजानां मङ्गलनिमित्तं त्वं सर्वं दातुं समर्था असि । अन्यः न कोऽपि त्वत् सदृशः अस्ति यः प्रजानां सर्वविधम् आवश्यकं परिपूरयति। तव सन्तोषे सति मानवः विपुलमशैर्यम्, तेजः तथा प्रभुत्वं प्राप्नोति।

श्रीअरोविन्दः वेदानां गभीरमध्ययनं कृत्वा वेदमन्त्राणां व्याख्यानमपि कृतवान्। मन्त्रव्याख्यानवेलायां यत्र यत्र देवीनां वर्णनं भवति तत्र अरोविन्दः अत्यन्तं सकारात्मकदृष्ट्या भावं प्रकाशयति। उदाहरणरूपेण देव्याः गायत्र्याः स्वरूपं श्रीअरोविन्दस्य दृष्ट्या इत्थं भवति -

**Gayatri** : In the gayatri, the chosen formula of the ancient Vedic religion, the supreme light of the Godhead surya, savitr, is invoked as the object of our desire, the deity who shall give his luminous impulsion to all our thoughts.[3]

वयं जानीमः सूर्यः विश्वस्य रक्षाकर्त्ता इति। परन्तु तस्य एव सूर्यस्य आलोकशिखा भवति गायत्री इति अरोविन्दस्य अभिप्रायः। गायत्री शक्तिं विना सूर्यः अपि निष्क्रियो भवति। एतेन मातृशक्तिः एव सकलशक्तेः आधारभूतः इति प्रमाणयति ऋषिः अरोविन्दः। एवमेव यदा अदिति तथा उषा प्रभृतीनां शब्दानां वर्णनं करोति तदा मातृशक्तेः प्राधान्यमेव स्पष्टीकरोति। श्रीअरोविन्दस्य दृष्ट्या अदिति साक्षात् देवमाता भवति। अपरत्र उषा भवति आकाशस्य पुत्री। उषसः प्रभावात् देवानां सर्वविधः विकाशो भवति। अतः शक्तिं विना समग्रं विश्वं प्राणहीनमिति समर्थयति ऋषि अरोविन्दः। यथा -

**Aditi :** psychologically, she is the Supreme or infinite Consciousness, The mother of the gods.[4]

**Usa** : Dawn in the Veda is the Goddess symbolic of new openings of the divine illumination on man's physical consciousness. She alternates with her sister night;

but that darkness itself is a mother of light and always Dawn comes to reveal what the black – browed Mother had prepared. Throughout the Veda Usa, daughter of Heaven is the medium of awakening the activity and the growth of the other gods.[5]

अपरत्र मातुः करालं रूपं संसारं नाशयतीति अभिवर्णयति श्रीअरोविन्दः। अन्याय-अत्याचार-भ्रष्टाचारस्य च प्रभावात् कुपिता भारतमाता भयङ्करं भवति इति कविः स्वानुभवं वहुत्र प्रकटयति। तत्र विशेषतया भवानी भारती काव्यसंग्रहे भारतमातुः भीषणं रूपं यथा -

सुखं मृदावास्तरणे शयानं सुखानि भोगान्वसु चिन्तयन्तम्।
पस्पर्श भीमेन करेण वक्षः प्रत्यक्षमक्ष्णोश्च बभूव काली॥

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं

वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम्।
पृष्ठे व्रणाङ्कामसुरप्रतोदैः

सिंहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम्॥

क्रूरैः क्षुधार्तैर्नयनैर्ज्वलद्भिर्विद्योतयन्तीं भुवनानि विश्वा।

हुङ्काररूपेण कटुस्वरेण विदारयन्तीं हृदयं सुराणाम्॥

आपूर्य विश्वं पशुवद्विरावैर्लेलिह्यमानाञ्च हनू कराले।
क्रूराञ्च नग्नां तमसीव चक्षुर्हिंस्रस्य जन्तोर्जननीं ददर्श॥[6]

ऋषिः लिखति एकदा सुकोमल-शय्यायां सः सुखेन निद्रां गत्वा स्वकीयं सुखं चिन्तयति। स्वस्य भोगवैभवाभ्युन्नतिश्च चिन्तयित्वा यदा श्रीअरोविन्दः आत्माभिवृद्ध्यर्थं दत्तचित्तः आसीत् तदानीं माता काली साक्षात् आविर्भूय तस्य वक्षः भीमहस्तेन अस्पृशत्। सा च माता अत्यन्तं भयङ्करं रूपं धारयित्वा अरोविन्दस्य पुरतः दण्डायमाना। ग्रीवायां नरस्थिमालां कटौ च नृमुण्डमेखलां धारयन्ती सा तत्रोपस्थिता। तदानीं सा वृकोदराक्षी, क्षुधिता, दरिद्रा, असुरस्य कशाधातैः शरीरप्रदेशे क्षतविक्षता च आसीत्। सा माता हन्तुकामा गर्जन्ती सिंही इव श्रीअरोविन्दम् अपश्यत् । क्रूरैः, क्षुधार्त-

जाज्वल्यमान-नेत्रैः सा सकलभुवनानि विद्योतयति स्म। तस्याः हूङ्कारस्वरूप-कटु-कर्कश-शब्देन देवानां हृदयं विदीर्यते स्म। क्रूरा, नग्ना सा जननी वन्यपशुः इव घोरशब्दैः विश्वम् आपूर्य अकम्पयत्, पुनः पुनः अतिशयेन च कराल - हनुयुगलस्य लेहनम् अकरोत्। तस्याः नेत्रे अन्धकारे हिंस्रजन्तोः चक्षुः इव उद्भासिते आस्ताम्।

एतादृश पद्येषु श्रीअरोविन्दः मानवस्य कुकर्मणः फलं वर्णयति। कुकर्मणि लिप्तो मानवः मातुः क्रोधस्य कारणं भवति। उपरि वर्णितेषु पद्येषु भ्रष्टाचारपूर्णभारतस्य दारुणं चित्रं दृष्ट्वा माता स्वकोपाग्निं प्रदर्शयति। यः भ्रष्टाचारं दृष्ट्वा मौनमलम्बते सोऽपि मातुः कोपस्य कारणं भवति। अतः कविः लिखति –

दीनाः क एते घृणिनो दरिद्राः

शान्तिं जघन्यां गणिकामिवान्धाः।

भजन्ति भोः कापुरुषा विमूढा

आलिङ्ग्य ये मोदथ मृत्युमेव।।[7]

अनेन प्रकारेण श्रीअरोविन्दः मातुः वर्णनं कृत्वा भारतजनतान् जागरुको करोति। कवेः मतानुसारं माता प्रसन्नो भूत्वा यथा मानवस्य कृते सर्वमपि ऐश्वर्यम् तथा मङ्गलं दातुं समर्थो भवति तथैव कुपिता एषा माता मानवस्य सर्वम् ऐश्वर्यं नाशयति। अतः कविः लिखति - ददासि या सापि निहंसि रुष्टा। इति।

श्रीअरोविन्दस्य चेतनायां मातुः कृते विशिष्टं स्थानं वर्तते। माता स्वतन्त्रा। संसारे न कापि शक्तिरस्ति या मातृशक्तेः स्थानमधिकरिष्यति।एवं विविध ग्रन्थेषु मातृशक्तेः सम्मानं करोति कविः।

सङ्केताक्षरसूची -

1. भवानी भारती – श्लोकसंख्या – 12
2. भवानी भारती – श्लोकसंख्या - 74
3. Sri Aurobindo's Vedic Glossary
4. Sri Aurobindo's Vedic Glossary

5. Sri Aurobindo's Vedic Glossary
6. भवानी भारती – श्लोकसंख्या – 4-7
7. भवानी भारती – श्लोकसंख्या – 15

**सहायकग्रन्थसूची -**


1. भवानी भारती – श्रीअरोविन्दआश्रमः - पुदुचेरी
2. AmarKosa – Choukhamba Vidya Bhavan, Varanasi
3. On the Veda – Sri Aurobindo – Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry
4. Sri Aurobindo's Vedic Glossary - Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry
5. Sri Aurobindo and Vedic Interpretations – Edited by Kala ACharya & Shubhada Joshi, Somaiya Publications Pvt.Ltd, 172 – Mumbai Marathi Granthasangrahalaya, Dadar – Bombay, 400014
6. Rig Veda Samhita – English Translation according to H.H.Wilson & Bhasya of Sayanacharya – Parimal Publications , Delhi

# श्रीमद्भगवद्गीता में निरूपित भक्तियोग: शाङ्करभाष्य की दृष्टि से

डा. रचना रस्तोगी,
सहायक आचार्या,
संस्कृत विभाग,
डायमण्ड हार्बर वूमेन्स विश्वविद्यालय,

**शोधसार –**

गीता भगवान् के द्वारा गाया ज्ञान `श्रीमद्भगवद्गीता' एक पूर्णशास्त्र है- "**इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम् ।**" [1] यह संसार के अनेकानेक धर्मग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है। तिलक जी के अनुसार- इसमें समस्त उपनिषद् ग्रन्थों का सार विद्यमान होने के कारण "**श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्**" नाम से अभिहित किया जाता है- "**श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु**" । श्रीमता भगवता गीता "श्रीमद्भगवद्गीता"। यहाँ "श्रीमान्" विशेषण युक्त "भगवान्" शब्द श्रीकृष्ण के लिये प्रयुक्त हुआ है एवं "गै गाने" धातु से भूतकाल में "निष्ठाप्रत्यय क्त" तथा स्त्रीलिङ्गी "टाप्" प्रत्यय करने पर "गीता" शब्द निष्पन्न होता है ।

मानव ईश्वर की साकार कल्पना करके उसके प्रति श्रद्धा एवं समर्पण रखकर उसके सान्निध्य को प्राप्त करना चाहता है, इसप्रकार के भाव को 'भक्ति' कहा गया है। भक्तिमार्ग मानवीय प्रवृत्ति के अनुकूल होने के कारण स्वाभाविक एवं सहज है। भक्ति का आलम्बन सगुण एवं साकार ही होता है।[2] महर्षि पतञ्जलि योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है- **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** । अर्थात् जब भक्त का चित्त बाह्यविषयों से परावृत होकर मात्र प्रभु के गुणानुवाद, कीर्तन, स्मरण एवं ध्यान में अनवरत लीन हो जाता है, वही 'भक्तियोग' की संज्ञा से विभूषित होता है। 'भगवान् मेरे साहाय्य हैं' इस भावना से अनुप्राणित होकर भगवान् के प्रति स्वार्थ एवं अभिमान से रहित होकर अत्यन्त श्रद्धा से प्रेम करता है, जिसका समस्त क्रिया-कलाप भगवद्भिन्न नहीं है, जिसके कारण क्षणमात्र भी प्रभु का विस्मरण असह्य हो जाता है, वही अनन्य भक्ति है-

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"[3]

**प्रमुख शब्द:**

भक्तियोग, भगवान्, भक्त, सगुणब्रह्म, भजन।

---

श्रीमद्भगवद्गीता मोहग्रस्त अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करने वाला उपदेशमात्र न होकर, एक समग्र दर्शन है, जिसके सार्वभौमिक, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक उपदेशों को आत्मसात् करके संसार

का कोई भी व्यक्ति मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर उचित कर्त्तव्य पथ पर निरन्तर अग्रसर होता हुआ अपने अभीष्ठ लक्ष्य को प्राप्त करता है । महाभारत के भीष्म पर्व में वर्णित है कि सुगीता गीता का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिये, जो स्वयं भगवान् पद्मनाभ के मुखारविन्द से निसृत है, इसके अध्ययन के पश्चात् अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती है-

**"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**
**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥"[4]**

आद्यशंकराचार्य के मतानुसार जिसने भगवद्गीता को अल्प भी पढा है, या गङ्गाजल के एक बिन्दु का पान किया है, एक बार भगवान् कृष्ण के मत का आचरण किया है, उसकी यमराज भी चर्चा क्या करेंगे अर्थात् उसे मृत्यु भय नहीं होता है-

**"भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता।**
**सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ।।"[5]**

समस्त उपनिषद् गौ स्वरूप हैं, श्रीकृष्ण ग्वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है, सुधी भोक्ता हैं और महान् गीतामृत दुग्ध है – "**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।**
**पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥"**

इसीप्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की महिमा के विषय में स्कन्दपुराण में वर्णित है-

**"गीतावास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति।**
**सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी॥"[6]**

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रतिक्षण नव स्वरूप से प्रभावित, देश-विदेश के प्रतिभा सम्पन्न अनेक मनीषी विद्वानों यथा सन्त ज्ञानेश्वर, लोकमान्य बाल गङगाधर तिलक, स्वामी विवेकानन्द, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सन्त विनोबा भावे इत्यादि ने इस ग्रन्थ का गहन चिन्तन, मनन किया और इसके मन्थन से निःसृत नवनीतरूप सद्विचारों से लोक का परिचय कराने का सदुपक्रम कर अपने जीवन की सार्थकता को प्रकट किया । इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य आदि शंकराचार्य का है ।

**भक्तियोग-**

श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म और जीवन से सम्बन्धित अनेक विषयों का गम्भीर विवेचन प्राप्त होता है, जिनमें भक्तियोग का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस मत को मानने वाले आचार्य रामानुज एवं अन्य सभी वैष्णव आचार्यों के अनुसार भगवद्गीता केवल कर्ममार्ग अथवा ज्ञान मार्ग का अनुसरण नहीं करती है, अपितु कर्म एवं ज्ञानयोग के साथ भगवान् में भक्तिभाव रखने का आदेश करती है । मनुष्य चाहे ज्ञानमार्ग का अनुसरण करे अथवा कर्ममार्ग का, उसे ईश्वर के प्रति भक्तिभाव रखना

आवश्यक है । माया के मोह में फँसकर मनुष्य अपने स्वरूप को विस्मृत करके जन्म-मरण के बन्धनों में पडकर अनेक सांसारिक दुःखों को प्राप्त करता है । इसका उपाय भगवद्गीता में भक्तियोग के द्वारा बताया गया है । भक्तिमार्ग के आचरण द्वारा मनुष्य ईश्वर को अपना सर्वस्व समर्पित करके परम शान्ति को प्राप्त करता है । भगवान् एवं भक्त के मध्य में भक्तिपरक सम्बन्ध है । भगवान् की दृष्टि में सभी समान हैं, किन्तु जो भक्त उनका भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, वे भगवान् में हैं और भगवान् उनके अन्दर व्याप्त हैं-

"**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।**"[7] भगवान् कहते हैं कि जो भगवद् शरण में हैं, जिनका मन मेरे अतिरिक्त अन्यत्र नहीं भ्रमण करता है, ऐसे महात्माजन मुझको भूतादि का कारण और अव्यय समझकर निरन्तर मुझको जपते हैं, वे सर्वपुरुषार्थभागी अर्थात् समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त करने वाले और अशोच्य- चिन्ता का विषय नहीं हैं-

**"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥"**[8]

**सगुणब्रह्म का स्वरूप-**

जब परमात्मा अपनी दिव्य प्रकृति को अधितिष्ठित करके अपनी योगमाया से लोगों के सामने प्रकट हो जाते हैं, तब वे सगुण साकार कहलाते हैं । सगुण का अर्थ सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से युक्त नहीं, प्रत्युत् जिसमें ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य,औदार्य आदि दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम सगुण है । श्री रामनुजाचार्य जी अपने भाष्य में लिखते हैं-

**"स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्ति तेजः**
**प्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिः।"**[9]

अर्थात् जो स्वाभाविक, असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य,शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुणसमूहों के महान् समुद्र हैं। एकादश अध्याय में भगवान् कहते हैं कि जो मेरे लिये ही कर्म कर्म करने वाला, मुझको ही परम अर्थात् प्राप्तव्य समझने वाला, मेरा भक्त, सङ्गरहित और समस्त प्राणियों में वैरभाव से रहित होता है, वह मुझको ही प्राप्त होता है-

**"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"**[10]

यहाँ पर भगवान् ने 'मत्' शब्द से साकार ब्रह्मविद्या के विषय में कहा है या निर्गुण ब्रह्मविद्या? इस पर अर्जुन द्वादश अध्याय में भगवान् से प्रश्न करते हैं कि जो भक्त निरन्तर योगयुक्त होकर सगुण सकार रूप आपकी उपासना करते हैं और अक्षर-अविनाशी,अव्यक्त-निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, उनमें कौन अत्युत्तम योगवेत्ता है?[11] इस प्रश्न के उत्तर में सगुण और निर्गुण दोनों विद्याओं में सर्वज्ञ भगवान्

अर्जुन का सगुणविद्या में ही अधिकार होने के कारण भगवान् कहते हैं कि मुझमें एकनिष्ठता और निरतिशयप्रियता से सिंदूर के रंग में लख के समान ही मन को एकाग्र करके निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए योगेश्वरों के ईश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कल्याणमय गुणोंके आकर, साकार मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं सर्वोत्तम- सर्वश्रेष्ठ योगवेत्ता स्वीकार करता हूँ-

**"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।**

**श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥"**

**भगवद्भजन अथवा आराधना-**

**भगवद्ध्यान करने में असमर्थ पुरुषों के लिये सगुणब्रह्म की उपासना के तीन साधन वर्णित हैं-**

१. **अभ्यास योग के माध्यम से भगवदप्राप्ति-** यदि भक्त अपने चित्त को स्थिरतापूर्वक भगवान् में समाहित नहीं कर सकता है तो अभ्यास रूपी योग द्वारा अर्थात् चित्त को समस्त वस्तुओं से निवृत्त करके प्रतिमा आदि किसी एक आलम्बन में पुनः पुनः स्थापित करके मुझको प्राप्त करने की इच्छा अर्थात् प्रयत्न करे । भगवान् वासुदेव धनञ्जय से कहते हैं कि जिसप्रकार तुम अपनी धनुर्विद्या द्वारा अभ्यास बल से राजाओं से धन और भीष्मादि से गोधन लाये थे, उसी प्रकार अपने योगाभ्यास से मुझ भगवान् वासुदेव को भी ग्रहण करने योग्य हो-

**"अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**
**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय॥"[12]**

२. **अभ्यासयोग में अशक्त होने पर भागवत धर्मों के अनुष्ठान द्वारा भगवद्प्राप्ति-**

यदि भक्त अभ्यास करने में असमर्थ है, मद्सम्बद्ध कर्मों अर्थात् भगवान् की प्रसन्न्ता के लिये जो कर्म यथा श्रवण, कीर्तन आदि भागवत् धर्म हैं, उनमें एकनिष्ठ हो जाये और भगवज्जन्य भागवतधर्म संज्ञक कर्मों को करते हुए भी वह सत्त्वशुद्धि अर्थात् अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा ब्रह्मभावरूप सिद्धि को प्राप्त होगा-

**"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।**
**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥"[13]**

३. **भागवत्धर्मों के अनुष्ठान में असमर्थ होने पर सर्वकर्मफलत्याग द्वारा भगवत्प्राप्ति-**

यदि भक्त बाह्य विषयों में आकृष्टचित्त होने के कारण मत्कर्मपरत्व भी करने में असमर्थ हो तो एकमात्र भगवान् की शरण ग्रहण करे, सर्वकर्मसमर्पणरूप मद्योग का आश्रय लेकर यत अर्थात् समस्त इन्द्रियों को संयत करने वाला और आत्मवान् अर्थात् विवेकी होकर समस्त कर्मफलों का त्याग करे –

**"अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।**
**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥"**

**सम्पूर्ण साधनों के पर्यवसान से सर्वफलत्याग की स्तुति-**

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है । कर्मफलों के त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है-

**"श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥"[14]**

**इसप्रकार** भक्ति मार्ग में भक्त द्वारा भगवान् को अपना सर्वस्व अर्पण करने से ही उनका भजन सम्भव है, अर्थात् अवश्यंभावी कर्मों का भगवान् को समर्पण ही भगवद्भजन है। अर्थात् सबकुछ परमात्मा का ही है, ये स्थिति केवल भक्तिमार्ग में ही सम्भव है । भगवदाराधना सुखपूर्वक भी सम्भव है जैसा कि भगवान् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल आदि कुछ भी वस्तु भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, उस प्रयतात्मा- शुद्धबुद्धि भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं खाता हूँ –

**"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"**

जिसके फल स्वरूप मनुष्य शुभ और अशुभ फलरूप कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और सन्यास अर्थात् समस्त कर्मों का अर्पण रूप योग से युक्तात्मा अर्थात् शुद्धचित्त होकर जीवित रहते हुए ही विमुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है-

**"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥**
**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।**
**संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥"[15]**

भगवान् कहते हैं कि तुम मुझमें ही चित्तयुक्त, मद्भक्त, मेरापूजन करने वाले हो और मुझे ही नमस्कार करो । इस प्रकार मत्परायण होकर अर्थात् मेरी ही शरण में आकर और मुझमें ही चित्त लगा कर, तुम मुझे प्राप्त करोगे-

**"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥"**

**भक्त के प्रकार-**

भक्त के लक्षण और उनमें भी कौन सा भक्त श्रेष्ठ है, यह निर्णय भी भगवद्गीता प्रस्तुत करती है-

**"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥"**

श्रीमद्भगवद्गीता में चार प्रकार के पुण्यकर्मकारी भक्तों का वर्णन प्राप्त होता है, जो भगवान् का अपने मन के अनुसार भजन करते हैं। वेदव्यास कहते हैं कि हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! आर्त (संकट निवारण के लिये भजन करने वाला), जिज्ञासु (मेरे को यथार्थ रूप से जानने वाला), उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी (सांसारिक पदार्थों के लिये भजने वाला) एवं ज्ञानी(विष्णु के तत्त्व को जानने वाला) इस प्रकार के भक्तों का समुदाय भगवान् द्वारा निर्देशित भक्तियोग का आचरण करता है। लेकिन इनमें ज्ञानी भक्त अर्थात् यथार्थ तत्व को जानने वाला एवं एकमात्र परमात्मा में ही अनन्य भक्तियुक्त, भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है-

**"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥"**

**भक्ति की महिमा-**

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति की महिमा वर्णित है, भगवान् कहते हैं कि यदि कोई सुदुराचारी अर्थात् अतिशय कुत्सित आचरण युक्त मनुष्य भी अनन्य प्रेम से युक्त होकर परमेश्वर का भजन करता है, तो उसे साधु अर्थात् सम्यक् आचरणयुक्त मानना चाहिये। आन्तरिक यथार्थ निश्चय की शक्ति से बाह्य दुराचारिता का त्याग करके वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत नित्य शान्ति एवं उपशम की प्राप्ति करता है। जिसने परमात्मा में अपना अन्तःकरण समर्पित कर दिया है, ऐसा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है अर्थात् उसका पतन सम्भव नहीं है-

**"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥"**[16]

**भगवान् द्वारा अक्षरोपासक ज्ञाननिष्ठ भक्तों की स्तुति-**

जो पुरुष समस्त प्राणियों से द्वेष न करने वाला, मैत्री स्थापित करने वाला, करुणा से युक्त, ममता-रहित, अहंकारशून्य, सुख-दुःख में समान, क्षमावान्, निरन्तर सन्तुष्ट, समाहित चित्त, शरीर और इन्द्रियों को वश में करने वाला, दृढ़निश्चयी एवं मुझमें समर्पितचित्तयुक्त, ऐसा भक्त अर्थात् शुद्ध अक्षरब्रह्मवेत्ता भगवान् को उनका आत्मस्वरूप होने के कारण प्रिय है। जैसा कि वर्णित है-

**"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥**
**संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥"**[17]

जिससे कोई भी मनुष्य उद्विग्न नहीं होता है और जो लोक में व्याप्त उद्वेगकारी पुरुषों से परम कारुणिक और क्षमाशील होने के कारण उद्विग्न नहीं होता है। जो व्याकुलतारूप चित्तवृत्तिविशेष हर्ष, अमर्ष, भय

और उद्वेग से मुक्त है, सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथाशून्य, सर्वारम्भपरित्यागी अर्थात् ऐहिक और आमुष्मिक फलयुक्त कर्मों का परित्याग करने वाला भक्त परमात्मा को प्रिय है-

**"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**
**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥**
**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥"[18]**

भगवद्चिन्तन और सङ्गति द्वारा दुराचारी भी आसुरी प्रवृत्ति को त्यागकर भगवद्भक्त बन जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न किसी वस्तु की आंकाक्षा करता है तथा शुभ और अशुभ दोनों का परित्यागी, शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में समान, शीत और उष्ण में, सुख और दुःख में समान और आसक्ति से रहित है, वह भक्तिमान् परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है-

**"यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**
**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥**
**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥"[19]**

**भक्ति-फल-**

भगवान् भक्ति के अनुरूप ही भक्तों को फल प्रदान करते हैं। जो भक्त भगवान् को जिसप्रकार से भजते हैं, उनको भगवान् भी उसी प्रकार से भजते हैं अर्थात् फल प्रदान करते हैं। **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'** अतः जिस प्रयोजन से अथवा फल की इच्छा से भक्त परमात्मा का भजन करता है या भक्ति के लिये जिस प्रकार की सात्विक, तामसिक या राजसिक विधि ग्रहण करता है, भगवान् उसे उसी प्रकार का फल प्रदान करते हैं-

**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"[20]**

सगुणब्रह्मवेत्ताओं को ईश्वरप्रसाद से निर्गुणब्रह्मविद्या के फल की प्राप्ति होती है। जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को वासुदेव में अर्पण करके मत्परायण हुए अर्थात् जिनका भगवान् ही प्रकृष्ट प्रीति का विषय हैं, इसप्रकार अनन्यभावरूप योग अर्थात् एकान्तभक्तियोग से सकल सौन्दर्यनिधान, आनन्दघनविग्रह, चतुर्भुज, करपल्लवों में शंख, पद्म, कौमोदकी, गदा और चक्र लिये हुए भगवान् वासुदेव का ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, उन भगवान् में ही चित्त लगाने वाले भक्तों का वे शीघ्र ही इस मृत्युरूप

संसारसागर अर्थात् संसार रूपी मिथ्याज्ञान और उसका कार्य भूत प्रपञ्च रूपी सागर से उद्धार करने वाला होते हैं–

**"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।**
**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥**
**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।**
**भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥"**

गीता में वर्णित है कि सगुण की उपासना करने वाला तीनों गुणों से अतीत हो जाता है-

**"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।**
**स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।"[21]**

यह समस्त धर्म रुपी अमृत समुदाय प्रयत्न से श्रद्धावान् और मत्परम अर्थात् अक्षरात्मा भगवान् वासुदेव ही जिनके परम प्राप्तव्य हैं, ऐसे मुमुक्षु के द्वारा सम्पादित होने पर उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है और वे मुमुक्षु वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रिय होते हैं-

**"ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥"[22]**

fu'd'kZ &

इसप्रकार भक्तियोग को साधनामार्ग में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है । यह अलौकिक निष्ठा है, क्योंकि इसमें परमात्मा की प्रधानता है । यह क्षर और अक्षर दोनों से विलक्षण है एवं 'परमात्मा' नाम से अभिहित किया गया है । भगवद्चिन्तन और सङ्गति द्वारा दुराचारी भी आसुरी प्रवृत्ति को त्यागकर भगवद्भक्त बन जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि मन को एकाग्र करके निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए योगेश्वरों के ईश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कल्याणमय गुणोंके आकर, साकार भगवान् की उपासना करते हैं, वे सर्वोत्तम- सर्वश्रेष्ठ योगवेत्ता हैं । भगवान् ने अपने चतुर्भुज विष्णुरूप के लिये अनन्यभक्ति को साधन बताया है । पराभक्ति से भगवान् को जो जान लेता है, फिर उनको तत्त्व से जानकर तत्काल उनमें प्रविष्ट हो जाता है । इसप्रकार भगवद्भक्ति द्वारा भगवान् की प्राप्ति भी सम्भव है ।

**सन्दर्भ-**

[1] गीताभाष्यभूमिका, शंकराचार्य

[2] क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥-१२.५

[3] ११.५५

[4] भीष्मपर्व ४३/१

[5] भज गोविन्दम्

[6] स्कन्द. वै. कार्तिक., २/५०

[7] गीता, ९.२९

[8] वही,९.१३

[9] भगवान् और उनकी भक्ति, पृ-३६ गीताप्रेस, सं २०५८

[10] गीता, ११.५५

[11] एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १२.१

[12] वही, १२.१०

[13] वही,१२.११

[14] वही,१२.१२

[15] गीता,९,२७-२८

[16] गीता,१२.६-७

[17] वही,१२.१३-१४

[18] वही,१२,१५-१६

[19] वही,१२.१७-१८

[20] वही ,४.११

[21] गीता, १४/२६

[22] वही,१२.२०

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. भगवद्गीता शाङ्करभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।
२. भक्तियोग, विवेकानन्द स्वामी, प्रकाशन पुस्तकालय, कानपुर, १९३०।
३. भक्ति और वेदान्त, विवेकानन्द, अशोक प्रकाशन, लखनऊ, १९५५।

# संस्कृतकाव्येषु शैवधर्मपरम्परा

डॉ.कृपाशङ्करशर्मा,असि.प्रोफेसर
साहित्यविभाग:,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय:,
भोपालपरिसर:,भोपालम्(मध्यप्रदेश:)

***सारांश:***

प्रस्तुतेऽस्मिन् शोधालेखे शैवधर्मपरम्पराया: विचार: काव्येषु कथं केन प्रकारेण प्रतिफलितमिति अस्यैव प्रतिपादनमत्र विहितम् । प्रबन्धेऽस्मिन् महाकविकालिदासप्रणीतकाव्यानाम् अन्येषां च काव्यानां समीक्षात्मकग्रन्थानां विचारानवलम्ब्य शैवभक्तिधाराया: लोकप्रासङ्गिकता उपादेयत्त्वं चोपस्थापितमिति । यद्यपि शिवस्य वास्तविकं कल्याणस्वरूपं तु वैदिकवाङ्मये एव प्राप्यते तथापि परवर्तिसंस्कृतसाहित्ये यादृशं चित्रणं कविभावनया वर्णितं तदेव शब्दप्रसूनै: निरूपितमिति । शोधलेखोऽयं शिवभक्तिधाराया: उपासकानां अनुसन्धानकर्तॄणां कृते च पथप्रदर्शको भविष्यतीति सारांश:।

- ***कूटशब्दा:-****अभिव्यक्तम्, आविर्भाव:,शैवागम:, हृदयस्पन्दनात्मकम्, काव्यस्तबकानि, महाकालनिकेतनम् ।*

- **प्रस्तावना:-**

संस्कृतसाहित्यस्य विशालपरम्परा वर्तते । अस्या: परम्पराया: द्विविधं स्वरूपं वर्तते वैदिकं लौकिकञ्चेति । वैदिकं स्वरूपं वेदसन्निहितोपनिषदारण्यकब्राह्मणादिग्रन्थेषु अभिव्यक्तम् । रामायणमहाभारतपुराणानि लौकिक संस्कृतसाहित्यपरम्पराया: आधारस्तम्भरूपाणि वर्तन्ते । एतान् ग्रन्थानवलम्ब्य लौकिकसंस्कृतकाव्यकारा: स्वकीयप्रतिभाबलेन विविधानि काव्यानि रचयन्ति स्म । काव्य-महाकाव्य-चम्पू-कथा-मुक्तक-शतकादिकाव्येषु मङ्गलपद्येषु ग्रन्थस्य निर्विघ्न समाप्तये अभीष्टस्य देवस्य स्तुति भावनां प्रतिपादयन्ति अभिव्यञ्जयन्ति च कवय:। अस्या: काव्यपरम्पराया: आविर्भावं प्रथमशतके मन्यन्ते पण्डिता: इति । अस्मिन् काले बौद्धकविरश्वघोषस्य नाम प्राथम्येन दृष्टिपथे आगच्छति। अस्य कविरश्वघोषस्य प्रसिद्धं काव्यं वर्तते बुद्धचरितमिति । काव्येऽस्मिन् भगवन्तं बुद्धमधिकृत्य प्रकान्तचरितं वर्णितम्। राज्ञ: कनिष्कस्यायं राज्यकाल:। प्रतिपाद्यस्योपस्थापनात् पूर्वं अत्र शैवधर्मस्य किंचित् विचारप्रतिपादनमिति आवश्यकमत्र भवति ।

- ***शैवधर्म:***

शिवभक्तिसमन्विता श्रद्धास्पदा या परम्परा सा एव शैवपरम्परा वर्तते । अस्या: परम्पराया: मूलोद्गमस्तु वैदिकवाङ्मये एव प्राप्यते । तस्मात् वाङ्मयात् एव परम्परेयं प्रादुर्भूता पल्लविता च । शैवधर्मस्य प्रमुखत्त्वेन प्रभाव: हिमाच्छादिते उत्तरदिग्भागे तथा च द्वादशेषु ज्योतिर्लिङ्गतीर्थस्थलेषु इयं परम्परा प्रसिद्धिं प्राप्ता । प्राक्तन शारदादेशे जम्मूकश्मीरक्षेत्रे अस्या: परम्पराया: साहित्यसृजनमेव मुख्यलक्ष्यमासीत् । तत्रैव भगवत्पादशङ्कराचार्येण शारदाम्बाया: कृपया बहुविधग्रन्था: स्तोत्रादय: रचिता:। यथा परात्रिंशिकादय: शैवधर्म परम्परापोषकग्रन्था: सन्ति । कालकालान्तरे परम्पराया: अस्या: विस्तारोऽपि सम्प्राप्त:। वैदिकपौराणिकसाहित्ये विस्तारपूर्वकं शिवभक्तिदर्शनयुतं पर्यालोचनम प्राप्यते । अत्र विस्तारभयात सूचनात्मकमेव पर्याप्तमिति ।

### *संस्कृतकाव्येषु शैवधर्मपरम्परा:-*

अत्र काव्ये शिवस्य बहुधा नामसंकीर्तनं दरीदृश्यते । यथा हि-

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीत:।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधत्त: ॥[1]

एवं हि महाकविनाश्वघोषेण कतिवारं भगवत: लोककल्याणकर्तु: शिवस्य नामोल्लेखोऽकारि । येनेदं ज्ञायते यद् तदानीं शैवधर्मपरम्परा शिवस्वरूपञ्च सामान्यतस्तादृशमेवासीद् यादृशं रामायणमहाभारतकाले दृश्यमानमाऽसीदिति । भारतीयजीवनपद्धतौ स कालोऽतीव रमणीयो शिवसंकल्पयुत: काल इति ज्ञायते । अस्मिन् काले सरस्वत्या: वाग्विलासस्य कविकुलगुरो: महाकविकालिदासस्याविर्भावोऽपि जात:। नाम्ना कर्मणा च कालिदास: शैव एवासीत् । तस्य रचना अद्यापि शैवागमस्य गौरवं वर्धयन्ति प्रसारयन्ति च । कालिदासस्य काव्येषु मङ्गलपद्येषु शिवस्तुतिभिरेव प्रारम्भो भवति । कालिदासरचनासु शिवस्य तदेव रूपं दृश्यते यस्य निरूपणमधुना तन्त्रे शैवागमे च दृश्यते । रघुवंशमहाकाव्यं श्रीरामचन्द्रमुद्दिश्य

[1] बुद्धचरितम्-1/88

प्रकान्तम् । रामस्तु विष्णोरवतार: । वैष्णवे चात्र काव्यक्रमे शिवशक्तिस्तुत्यैव ग्रन्थारम्भ:। यथा च-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥[1]

लघुकलेवरेऽस्मिन् श्लोके समासतो यन्निगदितं तस्य शैवागम एवोपजीव्यभूत:। अत्र श्लोके जगत: कारणत्वेन पार्वतीशिवौ मातापितृत्त्वेन स्तुतौ । वागर्थयोस्तादात्म्यसम्बन्ध:। शब्दातिरिक्तमर्थस्य कल्पनमेव न स्यात् । अर्थविरहितो न कोऽपि शब्द: स्थास्यति, न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते' इति भर्तृहरिवचनात् । शब्दार्थयोर्यादृशं तादात्म्यं कालिदासस्येष्टं तादृशमेवागमशास्त्रे स्वीकृतमिति कालिदास: साधयति । विक्रमोर्वशीये नान्दीपाठे शिव: पुरुषरूपेण निरूपित: । स वेदान्तस्य ब्रह्म इव पृथिव्यां दिवि च व्याप्त:, मोक्षार्थिनस्तं ध्यानेन योगेन च प्राप्तुं समीहन्ते, भक्तियोगेन चानायासेन लभ्य:। तथा हि उक्तं च कालिदासेन-

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसि

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषय: शब्दो यथार्थाक्षर:।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते

स स्थाणु: स्थिरभक्तियोगसुलभो नि:श्रेयसायास्तु व: ॥[2]

अत्र कविना कालिदासेन वेदान्तशब्दोल्लेखेन विशिष्टार्थ: अभिव्यक्त: । यतो ह्येकेश्वरवादिशैवागमस्तच्छिद्धान्तानुकूल:। अयमेव पन्था: महाकवेरपीष्ट आसीदित्यत्र विंसवादवकाशो नास्ति । एव अनेनैव प्रकारेण महाकविना अभिज्ञानशाकुन्तलस्य मङ्गलाचरणे प्रतिपादितम् यत्-

या सृष्टि: सृष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विधत्त: श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।

यामाहु: सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन: प्राणवन्त:

[2] विक्रमोर्वशीयम्-1/1

प्रत्यक्षाभि: प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश:॥[1]

पद्येऽस्मिन् महाकविना शिवस्याष्टमूर्तयो: मूर्तरूपेण शब्दभावव्यापारेण निरूपित:। ईश: परमेश्वर: लोकसत्ताधीशश्च परमकारुणिक: सृष्ट्युपयोगिप्रकाशाख्यश्च शिव: पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसूर्यसोमहोतृरूपेणानुदिनं विश्वं रक्षति । स्वस्यापि प्रत्यक्षविषयो दिव्यचक्षुषा न द्रष्टुं शक्यते। स च एभिर्मूर्ताष्टद्रव्यैरस्माकं सर्वेषां कृते प्रत्यक्षगोचरतां याति। एवं हि मालविकाग्निमित्रग्रन्थस्य मङ्गलपद्यस्यापि भावोऽत्र संगच्छते।

शैवधर्मस्य लोकविख्यातस्वरूपस्य दर्शनं कुमारसम्भवमहाकाव्ये मेघदूते चावाप्यते । कुमारसम्भवे शिवपार्वतीविवाहस्य मदनदहनस्य स्कन्दोद्भवस्य चाख्यानं साङ्गोपाङ्गरूपेण परिदृश्यते । एभिराख्यानैरतीवकमनीयं महाकाव्यं कविकालिदासेन ग्रथितं कुमारसम्भवन्नाम । महाकाव्येऽस्मिन् लोकाभिरामस्य शिवतत्त्वस्वरूपस्य वर्णनं जातम् , यत्र भगवाँच्छिव: शिवया सह कैलासे अमन्दानन्देनानुदिनं निवसति । अस्मिन् काव्ये शृङ्गारस्य भक्तिभावनायाश्चानुपमं सामञ्जस्यं दृश्यते यत्र सहृदयानामन्त:करणम् आनन्दभरेणान्दोलयति । महाकवि: कालिदास: कुमारसम्भवमिति महाकाव्ये अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज: इति उपक्रमेण हिमालयस्य स्वरूपं समुपस्थाप्य तत: स्ववर्ण्यविषयं प्रादुर्भावयति। कुमारसम्भवमहाकाव्ये भगवत्या: जगज्जनन्या: पार्वत्या: यादृशी भक्ति: महादेवं शिवं प्रति प्रदर्शिता तादृशी भक्तिर्नान्यत्र काव्येषु परिप्रकाश्यमाना जायते । मेघदूताख्ये खण्डकाव्येऽपि भगवत: शिव: कैलासवासी चित्रित:, उत्तरमेघस्य प्रथमद्वितीयपद्ययो: स्थितिरलकायां कैलाससमीपगा विद्यते । अत्र काव्ये उज्जयिन्यां महाकालेश्वरस्य विश्वविश्रुतस्य महाकालनिकेतनस्य सुन्दरवर्णनं विद्यते। तस्य च महाकालस्य कथासंक्षेपेण निरूपिता विद्यते। तत्र संध्याया आरार्तिक्यं मुहुर्ते नृत्याङ्गना: समागत्य स्वकीयकलाप्रदर्शनेन भगवत: महाकालस्य अर्चनाविधिं सम्पादयन्ति । यक्षेण मेघमार्गनिर्देशनप्रक्रमे पथो वक्रत्वे सत्यपि उज्जयिनीं गत्वा तत्र भगवत: शिवस्य दिवसावसानिकसंध्यायां मृदुगर्जनेन मृदङ्गतालेषु स्वतालसम्मेलनेन महाकालार्चनं सम्पाद्य पुरस्काररूपेण तत्रत्य नृत्याङ्गनानां कृतज्ञतामयै: कटाक्षैरानन्दसन्दोहं प्राप्नुहि इति कथा प्रतिपादिता। उक्तञ्च कालिदासेन मेघदूते तद्यथा-

अप्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्यकाले स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानु:।

कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥[3]

एवञ्च-

पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।

वेश्यास्त्वतो नखपदसुखान प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून् आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥[1]

एवं हि-

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तनिततनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः।[4]

इत्थं हि तस्मिन् काले उज्जयिन्यां प्राचीनशिवमन्दिरस्य सत्त्वात् तत्र हि नृत्यवादित्रै र्महाकालस्याराधनवर्णनेनैतत्कल्पनीयं भवति यत्तस्मिन् कालेऽतीवमहता समारोहेण तत्र शिवार्चनं भवति स्म्। प्रथमख्रीष्टाब्दशताब्द्यां द्वितीयख्रीष्टाब्दशताब्द्यां वा मृच्छकटिकनामकं प्रकरणम् महाकविना शूद्रकेण विरचितं वर्तते । अत्रापि महाकविशूद्रकेण भगवतः शिवस्य स्तुतिरूपं शैवधर्मस्य पर्यालोचनं कृतम् । तत्र प्रथमांशस्य कश्चिद् भागं परित्यज्य रूपकेऽस्मिन् शैवधर्मस्य भगवतः शिवस्य बहवः कथाप्रसंगोल्लेखाः लभ्यन्ते। तत्रैकं शिवस्य शिवेशानशङ्करशम्भुप्रमुखानि अभिधानानि दृष्टिगोचराः सन्ति। यथा-

एशाशि वाशू शिलशि ग्गहिदा केशेशु बालेषु शिलोलुहेशु।

आक्कोश्विक्कोश लवाहिचण्डं शुभं शिवं शंकलमीशल वा॥[1]

षष्ठे अङ्केऽपि चात्र महादेवीस्वरूपे भगवत्याः पार्वत्याः अपि बहुविधमुल्लेखोऽस्ति। तद्वारा च शुम्भनिशुम्भवधकथां प्रति अपि संकेतो विहितः। तत्र हि-

अभवं तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चंदो च।

[3] मेघदूतम्-पूर्वमेघ-38
[4] मेघदूतम्-पूर्वमेघ-40

हत्तूण सत्तुवक्खं सुभणिसुणे जघा देवी ॥[5]

संस्कृतछाया

(अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च ।

हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥)

भरतमुनिना नाट्यशास्त्रेऽपि शिवस्य उपजीव्यता स्वीकृता । ग्रन्थादावेव ग्रन्थकृता ब्रह्मण: शिवस्य च सहैव स्तुति कृता । सा च –

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ ।

नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥[1]

नटराज: भगवान् शिवोऽत्र ग्रन्थस्य प्रमुखत्त्वेन राजते । स च नृत्यकलाया महानाचार्य: कैशिकीवृत्तिं चाश्रित्य तिष्ठति इत्युक्तं नाट्यशास्त्रकारेण भरतमुनिना स्वकीये नाट्यशास्त्रे-

दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यत:।

कैशिकीश्लक्षणनैपथ्या शृंगाररससम्भवा ॥[6]

भगवत्पादशङ्कराचार्यविरचितस्य स्तुतिरूपात्मकस्य काव्यस्तबकानि सुमनोहाराणि वर्तन्ते । तेषु स्तोत्ररूपकाव्येषु पञ्चाक्षरस्तोत्रे शिवस्याराधनाया: विशिष्टं सुललितं भावभरितं हृदयस्पन्दनात्मकं स्वरूपं प्रकाश्यमानो दृश्यते तत्र श्रीमच्छङ्कराचार्येण यथा लिखितं तस्य अविकलं स्वरूपनिदर्शनं क्रियते-

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय भस्माङ्गरागाय महेश्वराय

नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय तस्मै न काराय नम: शिवाय॥

मन्दाकिनीसलिलचन्दनचर्चिताय नन्दीश्वरप्रमथनाथमहेश्वराय।

मन्दारपुष्पबहुपुष्पसुपूजिताय तस्मै म काराय नम: शिवाय ॥

शिवायगौरीवदनाब्जवृन्द सूर्याय दक्षाध्वरनाशकाय।

श्रीनीलकण्ठाय वृषभध्वजाय तस्मै शि काराय नम: शिवाय ॥

[5] मृच्छकटिकम्- 6/27

[6] ना.शा. -1/45

वशिष्ठकुम्भोद्भवगौतमार्य मुनीन्द्रदेवार्चितशेखराय।
चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय तस्मै व काराय नमः शिवाय॥
यक्षस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय।
दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै य काराय नमः शिवाय॥
पञ्चाक्षरमिदं पुण्यं यः पठेच्छिवसन्निधौ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते॥[1]

स्तोत्रेऽस्मिन् शिवस्य शुद्धदिगम्बरात्मकस्वरूपं नन्दीश्वरप्रमथनाथरूपात्मकं मन्दारपुष्पैः सुसज्जितं गौरीवदनाब्जसहितं नमः शिवाय इति मन्त्रजपात्मकं शब्दविशिष्टपदवाचकं स्वरूपं स्तवनं प्रतिपादितम्। अनेनैव प्रकारेण शिवमानसपूजायामपि शिवस्य भक्तिभावात्मिका प्रस्तुतिः शिवोऽहं शिवोऽहं इति चेतनात्मकभावं प्रकाशयति। यद्यपि भगवत्पादशङ्कराचार्यः स्वयमेव आदिशङ्कर इत्यनेन प्रसिद्धः तथापि शङ्कर एव शङ्करस्य उपासनायां स्वर-लय-भावरूपात्मकानि स्तोत्राणि विरच्य स्तोत्रकाव्यपरम्परायाःश्रीवृद्धिं कृतवानिति। एवम्प्रकारेणेव स्तोत्राणां सूक्तानां काव्यात्मकं स्वरूपं वैदिकसाहित्येषु पुराणेषु चापरग्रन्थेषु लभ्यते पुरातात्विकसाक्ष्यरूपेण। " शैवधर्मस्य शिपोसनायाश्चानेके संकेताः प्राप्यन्ते तत्रास्माभिः। ईशायाः प्रथमशताब्द्याः प्राक्तनां कुशाणराज्ञां सन्ति मुद्राः। वेम कैडफ़ासिस इत्यस्या द्वयोः सुवर्णमुद्रयोः पृष्ठभागे शिवश्चित्रं चित्रतम्। उभयोर्मुद्रयोरुत्थितो शिवो दक्षिणकरे गृहीतत्रिशूलोङ्कितः। प्रथममुद्रायां शिववाहनं वृषस्तत्पार्श्वे अवस्थितो दर्शितः, द्वितीयायाश्च भगवाँच्छिवः त्रिशूलातिरिक्तकमलण्डव्याघ्रचर्मयुक्तकरश्चित्रितः, उभयोर्द्विबाहुः शिवः रामायणमहाभारतमनुकरोति। एतदतिरिक्तन्तमुद्रयोर्यल्लेखस्तेनापि तस्य राज्ञः शैवमतानुयायित्वं प्रकल्पनीयं भवति, यतो ह्यत्र राज्ञः उपाधिः महीश्वर इति। अस्यैव राज्ञस्ताम्रमुद्रास्वपि सुवर्णमुद्रावत् शिवस्य चित्राङ्कनं जातम् परन्त्वत्र वैशिष्ट्यमिदं यदत्र परितः शिरो भागे प्रकाशमण्डलमुत्कीर्णम्। आसां मुद्राणां समनन्तरं राज्ञः कनिष्कस्य मुद्राः प्राप्यन्ते। अस्यैकस्याः सुवर्णमुद्रायाः अनेकषां ताम्रमुद्राणां च पृष्ठदेशे भगवतः चतुर्भुजरूपं निरूपितम्। तत्रापि शिरोभागे परितः प्रभामण्डलं, चतुर्बाहुषु त्रिशूलं, डमरुः कमण्डलुः पाशाश्च सन्ति। अनेन चित्रेण सार्द्धं यो लेखः स यूनानदेशलिप्यां वर्तते, तस्य संस्कृतानुवादः ईशः इति भवति। कनिष्कस्य

केषुचिदन्यपणकेषु शिवसमीपे एवैकः स्थितो मृगाऽङ्कितः। मन्ये संकेतोऽयं शिवस्य पशुपतिस्वरूपे अवतिष्ठते, यश्च सिन्धोरुत्खनस्य स्मरणमुत्पादयति, यत्र मुद्राणामधोभागे पुरुषदेवस्य पीठिकायामधोभागे च द्वौ हरिणौ प्रदर्शितौ । कनिष्कस्य कासुचिन्मुद्रासु द्विभुजस्य शिवस्याङ्कनम्, यत्र भगवत एकस्मिन् करे त्रिशूलम् अपरस्मिंश्च कमण्डलुः प्रदर्शितः एतदपि लहुर (लाहौर)संग्रहालय एव द्रष्टव्यम् ।

कनिष्कस्य उत्तराधिकाराधिकारी हुविष्कनाम राजा बभूव , यस्य शासनकालः ख्रीष्टाब्द्याःप्रथमशताब्द्युत्तरकालः द्वितीयायाश्चारम्भः काल आसीत् । अस्य कालस्य मुद्राष्वपि द्विजस्य चतुर्भुजशिवस्य च चित्राणि सन्ति अङ्कितानि । एतस्यापि प्रमाणं लाहौरसंग्रहालये सुरक्षितं वर्तते ।

द्वितीयतृतीयख्रीष्टाब्दशतकस्य शासनकालः कुशाणराजवंशानामस्ति । अस्मिन् काले हुविस्कस्योत्तराधिकारित्वेन वासुदेवस्य मुद्रा गृह्यन्ते । अत्र द्विभुजस्यैव शिवस्याङ्कनं यथापूर्वं वरीवर्ति । तस्य प्रमाणं बंगप्रदेशस्य राजधान्यां कलकत्तामहानगरस्थिते संग्रहालये तत्रत्य कैटलागस्य ८४ पृष्ठे अवलोकनीयं विद्यते । वासुदेवानन्तरं कुशाणवंशे रनेस्को राज्ञः राज्यकालः समागच्छति। तस्य मुद्राष्वपि पूर्ववदेव चित्रं चित्रितम् । ईशायास्तृतीयख्रीष्टाब्द्यां कुशाणवंशस्य सासानीवसु राज्ञो मुद्राः प्राप्यन्ते । तत्र कस्याश्चिद मुद्रायां स्त्रीदेवतायाः स्वरूपं चित्रितम्। तदनन्तरं वसोरधिकारिणस्तदुत्तरवर्तिसु वासुदेवमुद्रासु शिवस्य वृषभेण सहितं चित्राङ्कनं जातम् । एवमेभिः प्रमाणैर्ज्ञातुं शक्यते यदीशायास्तृतीयशताब्द्या यावत् समग्रे उत्तरभारते शैवधर्मस्य विस्तारः आसीदिति । चतुर्थशतकं भारतवर्षे गुप्तवंशस्य साम्राज्यकालः आसीत् । कालेऽस्मिन् भारतीयशैववैष्णवजैनप्रभृति समेषां धर्माणां पूर्णप्रतिष्ठा प्रचारश्चाजायत । धर्मप्राणा गुप्तवंशीयाः शासकाः स्वौदार्यभावेन भारतीयानखिलान धर्मान् परिरक्षितवन्तो वर्धितश्च ज्ञानेनाचारेण,संस्करेण, कलया चादिभिः भारतीयगौरवम् । अयमेव कालो भारतवर्षे सुवर्णकाल इत्यभिधीयते । यद्यपि गुप्तवंशीया राजानो भूयस्त्वेनासन् वैष्णवाः, परं चन्द्रगुप्त-कुमारगुप्त-स्कन्द-गुप्तप्रभृतीनि नामानि शिवपरकाणि । अतस्तेषां शैवत्वं सुतरां सिद्ध्यत्वेव ।” [7]

- ***उपसंहारः-***

[7] Report of ujjaini vikram university

सारांशत: इदं वक्तुं शक्यते यत् भारतीयपरम्परायां शैवपरम्पराया: महनीयं स्थानं उपादेयत्वं च वर्तते, अनया परम्परया संस्कृतसाहित्यस्य श्रीवृद्धि: लोककल्याणप्रदा भविष्यतीति नात्र संशय:। अस्मिन् शोधविचारप्रतिपादने शैवतत्त्वस्य प्रतिष्ठासंकल्प एव ज्ञायते इति । अस्मिन् उपक्रमान्तर्गते इदं वक्तव्यमुचितम् यत् शैवपरम्परा वा संस्कृतसाहित्ये शिवभक्तिपरम्पराया: अनुसन्धानकर्तृणां कृते उपादेय: पथप्रदर्शक: भविष्यतीति मे विचार:।

सन्दर्भग्रन्था:-

१. बुद्धचरितम्, चौखम्बा विद्याभवन,वारानसी,वर्ष-२०१४

२. रघुवंशमहाकाव्यम्- चौखम्बा संस्कृतभवन वाराणसी

३. विक्रमोर्वशीयम्, चौखम्बा विद्याभवन वारणसी

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

५. मेघदूतम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी वर्ष -२०१७

६. मृच्छकटिकम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम् १९८५

७. नाट्यशास्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

८. स्त्रोत्ररत्नाकर, गीताप्रेस, गोरखपुर

९. Report of ujjaini, vikram university, ujjain

# कालिदासस्य युगे तथा तस्य काव्ये आर्थ-सामाजिकी पटभूमिः

Mallika Sarkar

Department of Sanskrit

Hooghly Women's College

roymallika1984@gmail.com

निर्यासम्— महाकविकालिदासः गुप्तांगों राज्यों पृष्ठपोषकतायां तस्य समग्रं नान्दनिकीं तत्त्वसमन्वितकाव्यकृतिः सौन्दर्यमण्डितया लेखन्या उपहृतवान्। इतिहासपर्यालोचनया दृश्यते च गुप्तोयुगोऽयं सुवर्णयुग इत्याख्यया आख्यायितः।अस्मिन् स्वर्णयुगे आविर्भूय तस्य युगस्य प्रतिच्छविः स्वस्य रचनायां प्रतिफलिता भवेत् इत्येव स्वाभाविकम्। तस्य रचनायां तदानीन्तनियां सामान्यजनानां चिन्तनं, दृष्टिभङ्गी, समाजजीवनम् आर्थिकजीवनं समृद्धजीवन्आपि स्थानापन्नाः सन्ति। या सामाजिकी आर्थिकी स्वाच्छन्दस्य प्रतिच्छविः अस्माभिरूपलभ्यते स्म। अवश्यमेव त्वमेव सुवर्णयुगं चिह्नतं करोति। तस्मिन् युगे द्वितीयचन्द्रगुप्तस्त राजसभायां श्रेष्ठकविपदमलंकृत्य स्वस्य लेखन्या तस्य लेखन्या तस्य यूगस्य सर्वं समृद्धिं उपमासहयोगेन उपस्थापितवान्। यामास्वाद्य युगयुगान्तरं व्याप्य पाठकाः परितृप्यन्ते।

मूलशब्दाः---सुवर्णयुगः,समृद्धिः,कवित्त,शिल्पकला,ऐश्वर्यम्,विलासश्च।

इतिहास पर्यालोच्य सम्यक् ज्ञायते यत् अयं गुप्तयुग एव सुवर्णयुगरूपेन चिह्नितोऽस्तीति। तस्य युगस्य गुप्तराजानां वीरत्वस्य काहिनी रघुवंशे महाकाव्येऽपि अस्मार्भिज्ञायते।ङ कुमारगुप्तस्य पुत्रः स्कन्दगुप्तः हूणसकासात् पराजितवानिति ऐतिहासिकी काहिनीरधुना हूणविजयमाध्यमेन प्रकाशिता ।प्रभूतपरिमानेन ऐश्वर्या प्राचुर्यं तस्मिन् युगे आसीदिति प्रतिफलितमस्ति श्लोकेऽस्मिन्– – – – –

" तत्रहूणावरोधनांभर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।

कपोल–पाटलदेशि वभूव रघुचेष्टितम्।।"(रघु.चतुर्थसर्गः-६)

शिल्पकलाकारुकार्यादीभिः नैपूण्यं प्रकटयति तदानीन्तनी समृद्धि विषये। तदा स्थापत्य-भास्कर्य-शिल्पकलायाः पूर्णतया विकाशः विभिन्नेषु क्षेत्रेषु अभवदिति। युगोऽयं हिन्दुसभ्यतायाः सुवर्णयुगरूपेन प्रसिद्धः। समृद्धेकाले कालिदासस्य आविर्भावः। स्वभावतः मनुष्यानां दैनन्दिनखाद्यसामग्रीरूल्लेखेन तत् परिस्फुटति ।आर्थिकस्वच्छलतायाः कारणैव विविधप्रकारैः खाद्यभक्षणे ते अभ्यस्ता आसन्। यथा यव-वार्लि-तण्डुलेषु शालि-कलमा-तिल-निवारादयः ।शर्करा गिलाकृति खाद्यं यथा मोदकं दुग्धेन आमीक्षया च निर्मितं खाद्यं दधि-क्षीर-मधु-मांसादयः, विविधमत्साः, लवणं विविधैः प्रकारैः यः खाद्याभ्यासः वर्णितः स आर्थिकोन्नतेः परिचायकः। पानीयव्यवस्थापि सभुन्नतासीत्। कालिदासस्य मालविकाग्निमित्रनाटके, रघुवंशे, कुमारसम्भवे,अभिज्ञानशकुन्तलानाटके,सुरापानस्य दृश्यमस्माभिदरीदृश्यते। तत्र सुरायाः प्रकारत्रयं दृश्यते यथा नारिकेलफलरसनिर्माता, सिधुपक्करसनिर्माता, मधुकरसनिर्मिता सुरेति।

खाद्यवैचित्रमिव वस्त्रवैचित्रमपि तदानीं वर्तमानमासीत्। तत्काले विविधवर्णरञ्जितानि वस्त्राणि व्यवहृयन्ते स्म यथा शुभ्र- रज-कषाय-श्यामवर्णाश्चित्यादयः।ऊर्णावस्त्राणि अपि च कौशेयवस्त्राणि तदा परिधत्ते स्म।

चीनांशुकनाम्ना विशेषप्रकारं तन्तु चीनदेशादागच्छतीति ज्ञायते अभिज्ञानशकुन्तलमित्यत्र चीनांशुकवस्त्रस्य उल्लेखात्------

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्हितं चेतः।

चिनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य। ।(१|३२)

वस्त्राणां परिपाट्यं वैचित्रं उभावेव तदा स्त्रीपुरूषयोर्मध्ये वर्तमानासीत्। विविधानामाभूषणानां प्रयोगेऽपि दृश्यते कालिदासस्य काव्ये। तानि च आभरणानि अलङ्काराः मण्डणानि च।ते सौन्दर्यवोधका आसन्। प्रसाधनमाध्यमेन अङ्गसज्जां प्रति ते सचेतना आसन्।स्वच्छलतायाः कारणेन ते विलासव्यसने अर्थस्य समयस्य च उपयोगं कुर्वन्ति स्म।गृहसज्जायां रन्धनशालायां किंवा शौचालयसज्जायां ते यत्नशीला आसन्।

साहित्यिकानां उत्कर्ष अस्मिन् युगे सविशेषं लक्ष्यणीयः। प्रभूतपरिमानेन शास्त्रचर्चा कालेऽस्मिन् भवति स्म। सङ्गीतचर्चा नृत्यचर्चा अपि प्रचलिते आस्तां तदा। चित्रकला,चारुकला, शिल्पकलादयः वहुलं प्रचलितमासीत् तस्मिन् स्वर्णयुगे। कारणन्तु गुप्तराजानः न केवलंविद्याचर्चाया अपि तु शिल्पकलायामपि अनुरागिणः आसन्। नगरा आसीत् जनवहुलाः।मार्गस्य उभयतः आपनानि दृशतन्ते स्म। क्रेतारः इतस्ततः पर्यटन्त आसन् द्रव्यक्रयणाय। तानि द्रव्यानि विदेशं गतानि आसन्।

मनुष्यानां जातीयसम्पत्तेर्भित्तिरासीत् कृषिकार्यमेव। अनया उपार्जितं धनं जातीयधनरूपेण परिगण्यते स्म ।यथा स्थलभूमेः उपार्जनं भवति स्म तथा जलाशयादपि यत् उपलभ्यते तदपि जातीयसम्पदरूपेन परिगण्यते। रघुवंशकाव्यात् तदेव ज्ञायते अस्माभिः।नद्यासीत् मौक्तिकस्य उत्सः। सिकता आसन् स्वर्णकणाः ।यथा ताम्रपर्णी नद्यासीत् मुक्तायाः उत्सस्थलम्। अतः मनुष्याः प्रकृतिगतभावेन समृद्धशालिन आसन्।वनभूमिरपि आसीत् समृद्धेरन्यतम उत्सः। दैनन्दिनकार्याय प्रयोजनानि काष्ठानि अरण्यात् आहृयन्ते।हस्तीनां रक्षणमपि भवति राज्ञाः प्रयोजनसाधनाय।रन्धनकार्ये प्रयोगजनीयानामुपष्करणामाहरणमपि अरण्यात् भवति स्म। यथा---एला-लवङ्ग-मरीच-तम्बाक्वादयः।प्रभूतपरिमानेन व्यवसावाणिज्यं नदीपथेन, समुद्रपथेन, महापथेन, राजपथेन, नरेन्द्रपथेन संसाधितं भवति स्म।भारतीयोपष्करा अरण्याहृता या ता एव विदेशेषु प्रेष्यन्ते।

कालिदासस्य काल ऐश्वर्यस्य कालः इत्यस्य पर्यालोचनया वोधसौकर्यं भविष्यति।

मुद्रा---वाणिज्याय मुद्रा आसीत् प्रयोजनीयभाध्यमम्। तस्मिन् युगे विविधानां मुद्राणां व्यवहार भवति स्म।यथा स्वर्णमुद्रा, रौप्यमुद्रा, ताम्रमुद्रा चेति।

विज्ञापनम्—गुप्तयुगस्य उत्कीर्णानि यानि लिपिफलकानि उपलभ्यन्ते तेषु चित्ताकर्षं विज्ञापनम् उपलभ्यते।सुन्दरस्य विज्ञापनस्य य व्यवहारस्य गुरूत्वं तस्मिन् युगे यदासीत् तस्मात् विलासवहुलं जीवनयापनं अनायासेन अनुमीयते।

वित्तकोषे गच्छितावस्था—कालिदासस्य व्याख्याकृतौ गच्छितधनविषयेऽपि उदाहरणमूपलभ्यते ।सः निक्षेप इति शब्दं वहुत्र व्यवहृतवान्।यस्यार्थः अविश्वासं गच्छितकरणं परवर्तिनिकाले द्रव्येन सह पुणरादानम्। न्यास इति गचाछिकरणाय पद्धतिरेका इत्यपि उल्लेखितवान्। अन्यैका 'नीवी ' पदस्य उल्लेखनीय दृश्यते तस्य

रचनायाम्।वहुत्र तस्य लेखनीतः वयं प्राचीनभारतस्य न्यासीकरणस्य पद्धतेः ऋणग्रहणस्य पद्धतेश्चापि अस्माभिर्ज्ञायते। अस्मिन् विषये कुमारगुप्तस्य ' मन्दसोर ' लेख एव उल्लेखनीयः।

जनवसति—जनवसतिरपि समृद्धेः परिचायक आसीत्। भारतेऽस्मिन् न केवलम् आर्यजना अपि तु बहवः विदेशिजना अपि तस्य देशस्य उत्तरपश्चिमांशे विशेषतः उत्तरांशे वसति स्म।तेषु ग्रीक्-पार्सि-हूण-कम्बोज-पुंलिङ्ग-किरातजातयः अन्यतमाः।

एतदतिरिच्च गृहसौन्दर्यं खाद्यविषये विलासितापि अस्माभिर्दृश्यते। तस्मादेव गुप्तशाषकानां ऐश्वर्यं सहजतया अनुमीयते गुपातराजानः भिन्नेषु ऋतुषु भिन्नोत्सवानामायोजनं कुर्वन्ति स्म। एषु कौमुद्युत्सवः विषयेस्मिन् उल्लेखयोग्य स्थानमर्हति। तत्र च प्रभूतं धनं व्ययितं भवति स्म ।यस्मात् ते प्रभूतस्य धनस्य अधिकारिण आसन्।तस्मादेव तेषां राजसभायां विदग्धाः पण्डिताः राजसभामलङ्कुर्वन्ति स्म।इथ्थमेव वहुषु समृद्धिषु विराजमानः कालिदासःप्रभूतां नान्दनीकशोभामण्डिताः काव्यकृतयः उपहृतवान्। येषां पठनेन तस्य युगस्य धनीकस्य भारतवर्षस्य विशेषचित्रमस्माभिरूपलभ्यते।

एवमस्माभिर्दृश्यते तदानीन्तनभारतवर्षस्य वित्तशाली समृद्धशाली चित्रमेकं यत्र च कालिदासो वर्तमान आसीत्। तेनैव तस्य लेखन्या तत् चित्रं स्पष्टं चित्रितम्।हिन्दुदर्शनानुसारेन समृद्धशालीनां श्रेष्ठानां सक्षमानां विचक्षणानां नृपाणां यत् दृष्टान्तं सः दृष्टवान् तत् तस्य रचनायां रघुवंशे राजानां मध्ये आरोपितः।गुप्तराजानां दक्षशासनेन प्रजा यथा समृद्धशालिनोऽभवन् तथा तेषां सामाजिकार्थिकनिरापत्तायाः बोधः तस्य लेखन्यादिलीपस्य राजत्ववर्णनायां परिस्फुरितः।

"न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितर्यशः।

व्यावृत्ता यत् परस्वेभ्यः श्रुतो तस्करता स्हित।।"(रघु.प्रथमसर्ग-२७)

आर्थिकजीवनं सामाजिकजीवनञ्च मनुष्यानां सुष्ठुरासीत् तदा। तेनैव तस्मिन् युगे बहुशः साहित्यचर्चा अभवन्।गुप्तयुगस्य समृद्धिसमये यदा कालिदासस्य आविर्भाव अभवत् तस्य चित्र्यान्येव सर्वत्र तस्य लेखन्या वारं वारं विवृतान्यवभवन्।तेन हि तस्य प्रतिभा स्वर्णयुगे विन्यस्ता आसीत् इत्थमेव यत् पार्थिवसमृद्धे तथा परिपूर्णतायाः युगे आविर्भूतोऽभूत् इति तस्य लेखन्या काव्याकृतिषु च परिस्फुटितः।

तथ्यसूत्राणि-----


१|उदयवन्द्योपाध्यायेन सम्पादितं रघुवंशम्,संस्कृत वुक डिपो,२०११।

२|डः अनिलचन्द्रवसुसम्पादितमभिज्ञानशकुन्तलम्,संस्कृत वुक डिपो,कलकाता१९९९।

३|डः गोपेन्दुमुखोपाध्यायलिखितं संस्कृतसाहित्यस्य इतिवृत्तम्,इउनाइटेड वुक एजेन्सी,१४२१।

४|डः रमाशंकरपाण्ड्येसम्पादितं मालविकाग्निमित्रम्, चौखम्बासुरभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी,२००३।

५|भास्करचट्टोपाधायलिखिता भारतस्य आर्थसामाजिकराष्ट्रीयव्यावस्था,२१८४।

६|रणवीरचक्रवर्तीलिखिते प्राचीनभारतस्यार्थनैतिकेतिहाससन्धाने,१३९८।

७|दिलीपकुमारवन्द्योपाध्यायलिखिते भारतेतिहासस्य सन्धाने,द्वितीयखण्डः,साहित्यलोकम् २००७।